गायत्री विषयक शंका समाधान

गायत्री विषयक शंका-समाधान

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४ **मूल्य : ९.०० रुपये**

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

गायत्री—उपासना के संदर्भ में कई प्रकार की शंकाएँ उठती रहती हैं । इनका उपयुक्त समाधान न मिलने से, जिस—तिस द्वारा बताए गए भ्रान्त विचारों को स्वीकार करना पड़ता है । समय—समय पर प्रस्तुत की जाने वाली शंकाओं में से कुछ का समाधान अगले पृष्ठों में प्रस्तुत हैं ।

ISBN
81-89309-05-6

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस
मथुरा (उ. प्र.)

गायत्री एक या अनेक

गायत्री महामंत्र एक है । वेदमाता भारतीय संस्कृति की जन्मदात्री, आद्यशक्ति के नाम से प्रख्यात गायत्री एक ही है । वही संध्यावन्दन में प्रयुक्त होती है । यज्ञोपवीत संस्कार के समय गुरुदीक्षा के रूप में भी उसी को दिया जाता है । इसलिए उसे गुरुमंत्र भी कहते हैं । अनुष्ठान–पुरश्चरण इसी आद्यशक्ति के होते हैं । यह ब्रह्मविद्या है–ऋतम्भरा प्रज्ञा है । सामान्य नित्य उपासना से लेकर विशिष्टतम साधनाएँ इसी प्रख्यात गायत्री मंत्र के माध्यम से होती हैं । इसके स्थान पर या समानान्तर किसी और गायत्री को प्रतिद्वन्द्वी के रूप में खड़ा नहीं किया जा सकता ।

मध्यकालीन अराजकता के अन्धकार भरे दिनों में उपासना विज्ञान की उठक–पटक खूब हुई और स्वेच्छाचार फैलाने में निरंकुशता बरती गई । उन्हीं दिनों ब्राह्मण–क्षत्री–वैश्य वर्ग की अलग–अलग गायत्री गढ़ी गईं । उन्हीं दिनों देवी–देवताओं के नाम से अलग–अलग गायत्रियों का सृजन हुआ । गायत्री महामंत्र की प्रमुखता और मान्यता का लाभ उठाने के लिए देववादियों ने अपने प्रिय देवता के नाम पर गायत्री बनाई और फैलाई होंगी । इन्हीं का संग्रह करके किसी ने चौबीस देव–गायत्री बना दी प्रतीत होती है । देव–मंत्र यदि गायत्री छन्द में बने हों तो हर्ज नहीं, पर उनमें से किसी के भी महामंत्र को गायत्री का प्रतिद्वन्दी या स्थानापन्न नहीं बनाया जाना चाहिए और न जाति–वंश के नाम पर उपासना क्षेत्र में फूट–फसाद खड़ा करना चाहिए । देवलोक में कामधेनु एक ही है और धरती पर भी गंगा की तरह गायत्री भी एक ही है । चौबीस अक्षर आठ–आठ अक्षरों के तीन चरण–तीन व्याहृतियाँ–एक ओंकार इतना ही आद्य गायत्री का स्वरूप है । उसी

को जाति, लिंग आदि का भेद किए बिना सर्वजनीन–सार्वभौम उपासना के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए ।

गायत्री के चौबीस अक्षरों में से प्रत्येक में एक–एक प्रेरणा और सामर्थ्य छिपी पड़ी है । उसे ध्यान में रखते हुए चौबीस महा–मातृकाओं का उल्लेख है । यह न तो एक–दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी हैं और न आद्यशक्ति की समग्र क्षमता के स्थानापन्न होने के उपयुक्त । हर अक्षर का तत्वदर्शन एवं साधना क्षेत्र निरूपित करने के लिए चौबीस प्रतिमाओं का स्वरूप निर्धारित हुआ है । यह एक ही तत्व के भेद–उपभेदों को एक–एक करके समझाने और एक–एक चरण में दिव्य सामर्थ्यों का रहस्य उद्घाटन करने की प्रक्रिया भी है ।

नवदुर्गाओं की तरह गायत्री महाशक्ति के भी नौ विभाग हैं, उन्हें नव देवियाँ कहते हैं । इस विभाजन को अध्याय–प्रकरण के तुल्य माना जा सकता है । महामन्त्र के तीन चरणों में से प्रत्येक में तीन–तीन शब्द हैं । इस तरह यह शब्द परिवार सौर–परिवार के नौ शब्दों की तरह बन जाता है । यज्ञोपवीत के नौ धागे इसी विभाजन–वर्गीकरण का संकेत देते और विवेचना की सुविधा प्रस्तुत करते हैं । इस आधार पर गायत्री–तत्व–मण्डल में नौ देवियों को मान्यता मिली है और उनकी पृथक–पृथक प्रतिमा बनाई गई हैं ।

ब्रह्मतत्व व्यापक एवं निराकार है, पर उनकी विभिन्न सामर्थ्यों की विवेचना करने की दृष्टि से देवताओं का स्वरूप एवं प्रयोजन निर्धारित किया गया है । गायत्री के नौ शब्दों की नौ देवियाँ, चौबीस अक्षरों की चौबीस मातृकाओं की प्रतिमाएँ बनी हैं । यह एक ही महाशक्ति–सागर की छोटी–बड़ी लहरें हैं । इस भिन्नता में भी एकता का दर्शन है । अंग–अवयवों को मिलाकर काया बनती है । आद्यशक्ति की प्रेरणाओं, शिक्षाओं, सामर्थ्यों, सिद्धियों का निरूपण ही इन प्रतीक प्रतिमाओं के अन्तर्गत हुआ है । अतएव गायत्री एक ही है । प्रतिमाओं में भिन्नता होते हुए भी उसकी तात्विक एकता में अन्तर नहीं आता ।

गायत्री एकमुखी, सावित्री पंचमुखी है । गायत्री आत्मिकी और सावित्री भौतिकी है । एक को ऋद्धि और दूसरी को सिद्धि कहते हैं । रुपये के दोनों ओर दो आकृतियाँ होती हैं, पर इससे रुपया दो नहीं हो जाता । गायत्री और सावित्री एक ही तथ्य की दो प्रतिक्रियाएँ हैं । जैसे आग में गर्मी और रोशनी दो वस्तुएँ होती हैं, उसी प्रकार गायत्री–सावित्री के युग्म को परस्पर अविच्छिन्न समझना चाहिए ।

त्रिकाल संध्या में ब्राह्मी–वैष्णवी–शांभवी की तीन आकृतियों की प्रतिष्ठापना की जाती है । अन्यान्य प्रयोजनों के लिए उसकी अन्य आकृतियाँ ध्यान एवं पूजन के लिए प्रयुक्त होती हैं । यह कलेवर भिन्नता ऐसी ही है जैसे एक ही व्यक्ति सैनिक, मिस्त्री, खिलाड़ी, तैराक, नट, दूल्हा आदि बनने के समय भिन्न–भिन्न बाह्य उपकरणों को धारण किए होता है, भिन्न मुद्राओं में देखा जाता है । उसी प्रकार एक ही महाशक्ति विभिन्न कार्यों में रहते समय विभिन्न स्वरूपों में दृष्टिगोचर होती है । यही बात गायत्री माता की विभिन्न आकृतियों के सम्बन्ध में समझी जानी चाहिए ।

स्नान और उसकी अनिवार्यता

गायत्री जपे बिना स्नान किए भी हो सकता है या नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में समझा जाना चाहिए कि प्रत्येक अध्यात्म प्रयोजन के लिए शास्त्रों में शरीर को स्नान से शुद्ध करके और धुले हुए कपड़े पहन कर बैठने का विधान है । अधिक कपड़े पहनने पर सभी कपड़े नित्य धुले हुए हों, यह व्यवस्था करना कठिन पड़ता है । इसलिए धोती–दुपट्टा पहन कर बैठने की परम्परा है । ठण्ड लगती हो तो बनियान आदि पहन सकते हैं, पर वे भी धुले ही होने चाहिए । यह पूर्ण विधान हुआ ।

अब कठिनाईवश इस व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न होने पर क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकारों ने कठिनाई

की स्थिति में लचीली नीति रखी है । ऐसे कड़े प्रतिबन्ध नहीं लगाये जिनके कारण स्नान एवं धुले वस्त्र की व्यवस्था न बन पड़ने पर जप जैसा पुनीत कार्य भी बन्द कर दिया जाय । उसमें तो दुहरी हानि हुई । नियम इसलिए बने थे कि उपासना काल में अधिकतम पवित्रता रखने का प्रयत्न किया जाय । यदि नियम इतना कड़ा हो जाय कि स्नानादि न बन पड़ने पर जप, साधना का पुण्य उपार्जन ही बन्द हो जाय तब तो बात उल्टी हो गई । नियमों की कड़ाई ने ही साधना, उपासना कृत्य से वंचित करके, कठिनाई का हल निकालने के स्थान पर रही बची संभावना भी समाप्त कर दी । जो आधा-अधूरा लाभ मिल सकता था उसकी सम्भावना भी समाप्त हो गई ।

शास्त्र-विधान यह है कि शरीर, वस्त्र, पात्र, उपासना, पूजा सामग्री, देव प्रतिमा, आसन, स्नान आदि सभी को अधिकतम स्वच्छ बनाकर उपासना कृत्य करने पर जोर दिया जाय । इसमें आलस्य-प्रमाद को हटाने और स्वच्छता को उपासना का अंग मानने की बात कही गई है । फिर भी कारणवश ऐसी कठिनाइयाँ हो सकती है, जिनमें साधक की मनःस्थिति और परिस्थिति पर ध्यान देते हुए विधान-प्रक्रिया को उस सीमा तक ढीला किया जाय, जितना किए बिना गाड़ी रुक जाने का खतरा हो । स्वच्छता की नीति पूरी तरह तो समाप्त नहीं करनी चाहिए, पर जहाँ तक अधिकाधिक सम्भव हो उतना करने-कराने की ढील देकर क्रम को किसी प्रकार गतिशील रखा जा सकता है ।

रुग्णता, दुर्बलता से ग्रसित व्यक्ति स्नान की सुविधा न होने पर हाथ-पैर, मुँह धोकर काम चला सकते हैं । गीले तौलिए से शरीर पोंछ लेना भी आधा स्नान माना जाता है । वस्त्र धुले न हों तो ऊनी कपड़े पहन कर समझा जा सकता है कि उनके धुले न होने पर भी काम चल सकता है । यों मैल और पसीना तो ऊन को भी स्पर्श करता है और उन्हें भी धोने की या धूप में सुखाने की आवश्यकता पड़ती है, पर चूँकि उनके बाल गन्दगी को अपने अन्दर

नहीं सोखते, वह बाहर ही चिपकी रह जाती है । इस दृष्टि से उसमें अशुद्धि का सम्पर्क कम होने के कारण बिना धुले होने पर भी ऊनी वस्त्र पवित्र माने जाते हैं । यों स्वच्छता की दृष्टि से वे भी ऐसे नहीं होते कि बिना धुले होने पर भी सदा प्रयुक्त किये जाते और स्वच्छ माने जाते रहें । इसलिए इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्ति की असुविधा को ध्यान में रखते हुए शरीर और वस्त्रों की स्वच्छता के सम्बन्ध में उतनी ही छूट देनी चाहिए जिसके बिना काम न चलता हो । अश्रद्धा, उपेक्षा, आलस्य,. प्रमादवश स्वच्छता को अनावश्यक मानना और ऐसी मनमानी करना उचित नहीं ।

रेशमी वस्त्रों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही मान्यता है कि उन्हें धोने की आवश्यकता नहीं । वे बिना धोये ही शुद्ध होते हैं । यह मान्यता गलत है । सूत जितनी सोखने की शक्ति न होने से अपेक्षाकृत उसमें अशुद्धि का प्रवेश कम होता है, यह तो माना जा सकता है, पर उसे सदा सर्वदा के लिए पवित्र मान लिया जाय और धोया ही न जाय, यह गलत है । धोने के समय तो सूती कपड़े की अपेक्षा कुछ अधिक किया जा सकता है, इतना भर ही माना जाना चाहिए । धोया उसे भी जाय ।

रेशम के कपड़े पूजा में प्रयुक्त करते समय प्राचीनकाल की और आज की परिस्थिति के अन्तर को भी ध्यान में रखना होगा । प्राचीनकाल में कीड़े बड़े होकर जब उड़ जाते थे तब उसके छोड़े हुए खोखले से ही रेशम निकाला जाता था । यह अहिंसक उपलब्धि थी, पर आज तो अधिकांश रेशम जीवित कीड़ों को पानी में उबालकर उनका खोखला उपलब्ध करके प्राप्त किया जाता है । इसमें मारने वालों की तरह पहनने वाले भी अहिंसा के नियम का उल्लंघन करने के दोषी बनते हैं । इस प्रकार हिंसा युक्त तरीके से प्राप्त हुआ रेशम पूजा उपचार में तो निषिद्ध ही माना जाय । अच्छा तो यह है कि उनका उपयोग सामान्य पहनने के लिए भी न किया जाय ।

पशु चर्म के आसनों के सम्बन्ध में भी यही बात है । प्राचीन काल में ऋषि–मुनि जंगलों में रहते थे । वहाँ अपनी मौत से मरे

हुए वन्य पशुओं का चमड़ा जहाँ–तहाँ आसानी से उपलब्ध होता रहता था । । आच्छादन के अन्य साधन उन दिनों वनवासी लोगों के लिए सहज उपलब्ध भी न थे । ऐसी दशा में उनके लिए आच्छादन में मृग, सिंह, व्याघ्र आदि के चर्म का आसन, आच्छादन प्रयुक्त करना उचित था, पर आज तो जितना भी पशु–चर्म उपलब्ध होता है, उसमें ९९ प्रतिशत वध किए गए पशुओं का ही होता है । इस प्रकार हिंसापूर्वक प्राप्त किए गए चमड़े और मांस में कोई अन्तर नहीं पड़ता । आज जब आसन के लिए ऊनी, सूती, कुशा, चटाई आदि के अनेक प्रकार के बिना हिंसा के प्राप्त आसन सर्वत्र उपलब्ध हैं, तो फिर पशु–चर्म का उपयोग करने की क्या आवश्यकता ? अहिंसक विधि से बनने वाले आसन ही उपयुक्त हैं । इस दृष्टि से कुशासन को अधिक पवित्र मानने की परम्परा ही अधिक उपयुक्त है । धोना न बन पड़े तो भी धूप में सुखाकर आच्छादनों को पवित्र करने का शुद्धि कृत्य तो चलते ही रहना चाहिए । स्नान में जितनी शिथिलता अनिवार्य हो उतनी ही कमी करनी चाहिए । जितना अधिक बन पड़े उसी का प्रयत्न करना चाहिए ।

उपासना काल के मध्य में यदि मूत्र विसर्जन के लिए जाना पड़े तो हाथ–पैर धोकर फिर बैठा जा सकता है । छींक, अपानवायु, जम्भाई आदि आने पर तीन आचमन कर लेने से शुद्धि हो जाती है । बीच में शौच जाना पड़े तो स्नान अनिवार्य है, यदि न बन पड़े तो जितना बन पड़े हाथ, पैर, मुँह धो लेने आदि से भी काम चल सकता है ।

गायत्री उपासना का समय

प्रातःकाल का समय गायत्री उपासना के लिए सर्वोत्तम है । सूर्य उदय से पूर्व दो घण्टे से लेकर दिन निकलने तक का समय ब्रह्म–मुहूर्त माना जाता है । इस अवधि में की गई उपासना अधिक फलवती होती है । सायंकाल सूर्य अस्त होने से लेकर एक घण्टे बाद तक का समय भी संध्याकाल है । इतने पर भी अन्य समय में

न करने जैसी कोई रोक नहीं है । दिन में सुविधानुसार कभी भी जप किया जा सकता है । जिन लोगों को रात की पाली में काम करना पड़ता है, जैसे रेलवे आदि की नौकरी में छुट्टी के समय बदलते रहते हैं, वे अपनी सुविधानुसार जब भी स्नान आदि करते हैं, तो उपासना को भी नित्य कर्म में सम्मिलित रख सकते हैं । इस प्रकार बार–बार समय बदलना पड़े तो भी हर्ज नहीं है । न करने से करना अच्छा । प्रातः सायं का समय न मिलने के कारण उपासना ही बन्द कर दी जाय यह उचित नहीं । सर्वोत्तम न सही तो कुछ कम महत्व का समय भी बुरा नहीं है ।

रात्रि को जप करना निषिद्ध नहीं है । शास्त्रकारों ने सामान्य सुविधा का ध्यान रखते हुए ही रात्रि का महत्व घटाया है । दिन काम करने के लिए और रात्रि विश्राम के लिए है । विश्राम के समय काम करेंगे तो इससे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा । इसलिए विश्राम के घण्टों में विक्षेप न करके काम के घण्टों में ही अन्य कामों की तरह ही उपासना करने का औचित्य है । एक कारण यह भी है कि सविता को गायत्री का देवता माना गया है । सूर्य की उपस्थिति में उस उपासना द्वारा सूर्य तेज का अधिक आकर्षण किया जाता है । उसकी अनुपस्थिति में लाभ की मात्रा में कुछ कमी रह जाती है । इन्हीं दो बातों के कारण रात्रि में उपासना का महत्त्व कम किया गया है । किन्तु निषेध फिर भी नहीं है । दिन की तरह रात्रि भी भगवान द्वारा ही निर्मित है । शुभ कार्य के लिए हर घड़ी शुभ है । जिनके पास और कोई समय नहीं बचता वे रात्रि में भी अपनी सुविधानुसार किसी भी समय अपनी उपासना कर सकते हैं ।

विधि निषेध का असमंजस अधिक हो तो रात्रि की उपासना मौन मानसिक की जा सकती है । माला का प्रयोजन घड़ी से पूरा किया जा सकता है । माला प्राचीन काल में हाथ से प्रयुक्त होने वाली घड़ी है । परम्परा का निर्वाह करना और माला के सहारे जप करने की नियमितता बनाये रखना उत्तम है । फिर भी रात्रि में

माला न जपने से किसी विधि निषेध की मन में उथल–पुथल हो तो माला का काम घड़ी से लेकर नियत संख्या की, उपासना अवधि की नियमितता बरती जा सकती है ।

माला चन्दन की उत्तम है । शुद्ध चन्दन की माला आसानी से मिल भी जाती है । तुलसी के नाम पर बाजार में अरहर की या किन्हीं जंगली झाड़ियों की लकड़ियाँ ही काम में लायी जाती हैं । इसी प्रकार रुद्राक्ष के नाम पर नकली गुठलियाँ ही बाजार में भरी पड़ी हैं । उनके मनमाने पैसे वसूल करते हैं । आज की स्थिति में श्वेत चन्दन की माला ही उत्तम है । यों वे नकली भी खूब बिकती हैं । असली होना आवश्यक है । चन्दन, तुलसी और रुद्राक्ष में से जिसका भी प्रयोग करना हो वह असली ली जाय, इसका यथासंभव प्रयत्न करना चाहिए ।

मानसिक जप रात्रि में करने में कोई अड़चन नहीं है । रास्ते चलते, सवारी में बैठे, चारपाई पर पड़े हुए भी मानसिक जप करते रहा जा सकता है । होंठ, कण्ठ, जीभ बिना हिलाये मन ही मन जप, ध्यान करने में किसी भी स्थिति, किसी भी समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं है । विधिवत् की गई साधना की तुलना में विधि रहित मानसिक जप–ध्यान का फल कुछ कम होता है । इतनी कमी है । जितना गुड़ डाला जाय, उतना ही मीठा होने की बात विधिवत और मानसिक जप पर भी लागू होती है ।

उच्चारण क्रम

गायत्री मंत्र का किस प्रयोजन के लिए किस प्रकार उच्चारण करें, इस सम्बन्ध में कई बातें जानने योग्य हैं । गायन उच्चारण सस्वर किया जाता है । प्रत्येक वेद मन्त्र के साथ स्वर विधान जुड़ा हुआ है कि उसे किस लय, ध्वनि में, किस उतार–चढ़ाव के साथ गाया जाय । वेद–मन्त्र को छन्द भी कहते हैं । वे सभी पद्य में हैं और गायन में जो स्वर लहरी उत्पन्न करते हैं उसका प्रभाव ध्वनि तरंगें उत्पन्न करता है । वे तरंगें निखिल ब्रह्माण्ड में परिभ्रमण

करतीं और सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करती हैं । इसलिए सहगान में, यज्ञ–हवन में, मंगल प्रयोजनों में, शुभारम्भ में, गायत्री मंत्र उच्चारण सहित, निर्धारित स्तर विधान के साथ, निर्धारित ध्वनि प्रक्रिया के साथ गाया जाता है । तीन वेदों में गायत्री मन्त्र का उल्लेख है । तीनों में स्वर लिपि अलग–अलग हैं । इनमें से एक ही चुनना ठीक है । यजुर्वेदीय गान उच्चारण सर्वसाधारण के लिए अधिक उपयुक्त है ।

नियमित जप मन्द स्वर से किया जाता है । उसमें होंठ, कण्ठ, जीभ में स्पन्दन तो रहना चाहिए, पर ध्वनि इतनी मन्द होनी चाहिए कि अन्य कोई उसे सुन समझ न सके । मात्र हल्का गुन्जन जैसा कुछ अनुभव होता रह सके ।

यदि रास्ता चलते, बिना नहाये, काम–काज करते हुए अनियमित जप करना हो तो होंठ, कण्ठ, जीभ सभी बन्द रहने चाहिए और मन ही मन ध्वनि–ध्यान की तरह उसे करते रहना चाहिए । ऐसी स्थिति में जो जप किया जाता है, उसकी माला के समान गणना नहीं की जाती । घड़ी देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अपनी जप–गति क्या थी और कितने समय में कितना मानसिक जप हो गया होगा ।

अधिक 'ओंकारों' का प्रयोग

कहीं–कहीं ऐसे विधान मिलते हैं कि गायत्री मन्त्र के साथ एक से अधिक ॐकारों का प्रयोग करना चाहिए । कोई तीन और कोई पाँच ॐकार लगाने की भी बात कहते हैं । आदि में, मध्य में और अन्त में, तीन चरणों में से प्रत्येक के पहले–व्याहृतियों के बाद एक या अधिक ॐकार लगाने की बात कही जाती है । इसके लिए यत्र–तत्र के उल्लेख भी उपस्थित किये जाते हैं ।

मत–मतान्तरों ने यह भिन्नता किस प्रकार प्रस्तुत की इसकी सही जानकारी तो नहीं मिल सकी, पर ऐसा प्रतीत होता है कि तिलक छाप में अन्तर करके जिस प्रकार अपने सम्प्रदाय की

जानकारी कराई जाती है—वेष, वस्त्र आदि से अपने वर्ग का परिचय सर्व साधारण को कराया जाता है, सम्भवतः उसी प्रकार गायत्री जप में न्यूनाधिक ॐकारों को प्रयोग करने की प्रथा चलाई होगी ।

साधारणतया प्रत्येक वेद मंत्र से पूर्व उसके सम्मान का बोध कराने के लिए एक ॐ लगाने का विधान है । जिस प्रकार किसी के नाम का उल्लेख करने से पूर्व 'श्री', 'श्रीमती', 'मिस्टर', 'कुमारी' आदि लिखने का, उसके प्रति सम्मान प्रकट करने का शिष्टाचार प्रचलित है, उसी प्रकार प्रत्येक वेद मंत्र से पूर्व 'ॐ' लगाते हैं । तीन व्याहृतियाँ आठ—आठ अक्षरों के तीन चरण और एक ॐकार बस इतना ही गायत्री मन्त्र है और वही पूर्ण भी है । जप, यज्ञ आदि में इसी परिपूर्ण मन्त्र का उपयोग होना चाहिए । गुरु मन्त्र गायत्री का इतना ही स्वरूप है । विशिष्ट साधना और नित्य कर्म में इतना ही मंत्र भाग प्रयुक्त होता रहा है । अधिक संख्या में ॐकारों का प्रयोग करना सम्भवतः सम्प्रदाय विशेषों में अपनी पृथकता सिद्ध करने की दृष्टि से ही चला है ।

'ॐ' भगवान का सर्वोत्तम नाम है । उसका अधिक बार गायत्री मंत्र में प्रयोग कर लेने में भी कोई हानि नहीं । इसलिए जिन्हें अधिक बार 'ॐ' लगाने का मन है, उन्हें रोकने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसमें अनुचित जैसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती । जहाँ तक सार्वभौम व्यवस्था, एकरूपता, समस्वरता एवं शास्त्रीय परम्परा का प्रश्न है, वहाँ मंत्र के आरम्भ में एक बार 'ॐ' लगाना ही अधिक सही कहा जायगा ।

गायत्री का जातिगत अधिकार

कहा जाता है कि गायत्री का अधिकार ब्राह्मण वर्ग को है । कहीं—कहीं उसके द्विजातियों तक सीमित होने का उल्लेख है । इससे लगता है कि ब्राह्मणेत्तर अथवा द्विज वर्ग के बाहर के लोगों, असवर्णों को गायत्री का अधिकार नहीं है ।

यह शंका सर्वथा निर्मूल है । एक कारण तो यह है कि गायत्री ब्राह्मी शक्ति होने के कारण उसका उपयोग करने का अधिकार सूर्य, जल, वायु, पृथ्वी आदि की तरह सभी को है । प्रतिबन्ध मनुष्यकृत वस्तुओं पर उनके मालिक लगा सकते हैं । ईश्वरीय निर्मित वस्तुएँ सभी के लिए उपलब्ध रहती हैं । गायत्री सार्वभौम है, सर्वजनीन है । उस पर किसी धर्म, जाति, वंश, वर्ग का आधिपत्य नहीं है । हर वर्ग, वंश का व्यक्ति इस कल्पवृक्ष का आश्रय बिना किसी हिचक के ले सकता है ।

गायत्री गुरु मंत्र है । विद्याध्ययन के लिए छात्र जब गुरुकुल में प्रवेश करते थे तो सर्वप्रथम उन्हें गायत्री मन्त्र ही गुरु द्वारा दिया जाता था । विद्यार्थी सभी वर्णों के होते थे और सभी को गायत्री मंत्र मिलता था । भारतीय संस्कृति का प्रधान प्रतीक शिखा है, जिसे बिना किसी वर्ण भेद के सभी हिन्दू समान रूप से धारण करते हैं । शिखा गायत्री का स्वरूप है । मस्तिष्क पर सद्विवेक का अनुशासन स्थापित करने वाली इस ध्वजा को गायत्री की प्रतिमा ही कह सकते हैं । शिखाधारी तो अनायास ही गायत्री का अधिकारी बना होता है ।

प्राचीन काल में वर्ण–व्यवस्था जन्म, वंश पर नहीं गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित थी । वर्ण बदलते रहते थे । वंश और वर्ण का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था । उन दिनों की सामाजिक व्यवस्था में कुटिलता अपनाने और कुकर्म करने वालों का सामाजिक बहिष्कार होता होगा और उनके नागरिक अधिकार छिन जाते होंगे । ये बहिष्कृत लोग खुले हुए कैदियों की स्थिति में सुधरने तक अलग रखे, तिरष्कृत किये जाते होंगे । उसी सामाजिक वर्ण व्यवस्था में सम्भवतः उन अस्पर्श्यों से गायत्री का अधिकार छिन जाता होगा । इसी स्थिति का उल्लेख अंत्यजों को गायत्री मंत्र से वंचित करने के दण्ड रूप में किया जाता होगा ।

जो हो आज वैसी सामाजिक दण्ड व्यवस्था नहीं रही । फिर कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था का आधार भी नष्ट हो गया । ऐसी

दशा में किसी वंश विशेष को अधिकारी, अनधिकारी ठहराने का कोई औचित्य नहीं हो सकता । सभी मनुष्य भगवान के पुत्र हैं । सभी भाई–भाई हैं । जन्म के आधार पर कोई ऊँच–नीच नहीं हो सकता । उत्कृष्टता–निकृष्टता का एकमात्र आधार मनुष्य के सत्कर्म, दुष्कर्म ही हो सकते हैं । इन तथ्यों के रहते किसी वंश के ही लोगों को गायत्री का अधिकारी ठहराने की बात अनर्गल है । गायत्री उपासना सभी वर्णों के, सभी धर्म–सम्प्रदायों के लोग बिना किसी भेदभाव के कर सकते हैं ।

गायत्री को ब्राह्मण वर्ण तक सीमित करने वाली बात तो और भी अधिक उपहासास्पद है । गायत्री विनियोग में इस महामंत्र के ऋषि विश्वामित्र कहे गये हैं । विश्वामित्र जन्मतः क्षत्रिय थे । उन्हें ही इस महामंत्र का साक्षात्कार और रहस्योद्घाटन करने का श्रेय प्राप्त है । यदि जाति–वंश की दावेदारी का झंझट खड़ा हो तो उस स्थिति में क्षत्रिय वर्ण के लोग अपने उत्तराधिकारी होने का दावा कर सकते हैं । ब्राह्मण तो तब भी हार जायेंगे ।

ब्रह्मपरायण–उत्कृष्ट व्यक्तित्व वाले साधक गायत्री उपासना से अधिक उच्चस्तरीय लाभ उठा सकते हैं । इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए गायत्री को ब्राह्मण की कामधेनु कहा गया है । इस प्रतिपादन में मात्र उत्कृष्टता की विशिष्टता को महत्व दिया गया है । अन्य वर्ग के लोगों को उससे वंचित करने जैसा प्रतिबन्ध उसमें भी नहीं ।

प्राचीन प्रचलन, शास्त्र का निर्देश और न्याय नीति के आधार पर गायत्री उपासना सर्वजनीन ही ठहरती है । जाति, वंश, देश, सम्प्रदाय के कारण सार्वभौम उपासना पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता । हर कोई प्रसन्नतापूर्वक इस महाशक्ति का अंचल पकड़ कर ऊँचा उठने और आगे बढ़ने का लाभ प्राप्त कर सकता है ।

स्त्रियों का गायत्री अधिकार

केवल पुरुष ही गायत्री–उपासना के अधिकारी हैं, स्त्रियाँ नहीं–ऐसा कई व्यक्ति कहते सुने जाते हैं । इसके समर्थन में वे जहाँ–तहाँ के कुछ श्लोक भी प्रस्तुत करते हैं ।

इन भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए हमें भारतीय संस्कृति के मूल स्वरूप को समझना होगा । वह विश्वधर्म–मानवधर्म है । जाति और लिंग की अनीतिमूलक असमानता का उसके महान सिद्धान्तों में कहीं भी समर्थन, प्रतिपादन नहीं है । समता, एकता, आत्मीयता के आदर्शों के अनुरूप ही उसकी समस्त विधि–व्यवस्था विनिर्मित हुई है । ऐसी दशा में स्त्रियों के मानवोचित नागरिक एवं धार्मिक अधिकारों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाने जैसी कहीं कोई बात नहीं है । नारी को नर से कनिष्ठ नहीं वरिष्ठ माना गया है । इसे हेय ठहराने और आत्म–कल्याण की महत्वपूर्ण साधना न करने जैसा प्रतिबन्ध लगाने की बात तो तत्वदर्शी ऋषि सोच भी नहीं सकते थे । भारतीय दर्शन की आत्मा ऐसे भेदभाव को सहन नहीं कर सकती । इसलिए धर्मधारणा के किसी भी पक्ष से गायत्री उपासना जैसे अनुशीलन से उसे रोका गया है, ऐसी भ्रान्ति न तो किसी को फैलानी चाहिए और न किसी को ऐसा कुछ कहने वालों की बात पर ध्यान देना चाहिए ।

मध्यकाल के अन्धकार युग में सामन्ती व्यवस्थाओं का बोलबाला था । वे सामर्थ्यहीन दुर्बलों का हर दृष्टि से शोषण–दोहन करने पर तुले हुए थे । उनका वैभव, वर्चस्व, विलास एवं अहंकार इसी आधार पर पुष्ट होता था कि दुर्बलों के सता सकने की आतंक–क्षमता का उद्धत प्रदर्शन करके अपनी बलिष्टता का परिचय देते रहें । उन्हीं दिनों दास–प्रथा पनपी, रखैलों से अन्तःपुर सजे, अपहरण हुए, युद्ध ठने, कत्लेआम हुए और न जाने कितने कुकृत्यों की बाढ़ आई । इस कुकृत्यों के समर्थन में आश्रित पण्डितों से कितने ही श्लोक

लिखाये गये और प्राचीन ग्रन्थों में ठुसवाये गये । नारी भी इस कुचक्र में फँसने से न बची । उसके यौवन, श्रम तथा मनोबल के मनमाने उपयोग के लिए ऐसी व्यवस्थाएँ गढ़ी गईं, जिससे पद–दलितों का मनोबल टूटे और वे सहज ही शरणागति स्वीकार कर लें । सामन्तों और पण्डितों की इस मिली भगत ने स्त्री, शूद्रों को कुचलने के लिए ऐसे प्रतिपादन खड़े किए जिन्हें धर्म परम्परा का बाना पहनाया जा सके । देशी और विदेशी आततायी अपनी–अपनी गतिविधियों को निर्बाध गति से देर तक चलाने के लिए दमन और शमन के दुहरे आक्रमण करते रहे । नारी वर्ग को असूर्यम्पश्या–पर्दे के पीछे रहने वाली कठपुतली, चरणदासी बनी रहने, सती होने, पति को ही परमेश्वर मानकर उसके हर अनौचित्य को शिरोधार्य करने जैसे शमन–प्रयोग उसी षड्यन्त्र के अंग हैं । स्त्रियों को जन्मजात निकृष्ट ठहराने का एक प्रमाण यह भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि वे दीन–हीन होने के कारण ही गायत्री मंत्र जैसी श्रेष्ठ उपासना एवं शास्त्र उपासना करने की भी अधिकारिणी नहीं हैं ।

प्राचीनकाल के इतिहास एवं शास्त्र अनुशासन को देखने से स्पष्ट है कि भारतीय धर्म में नर और नारी के अधिकारों में कहीं रत्ती भर भी अन्तर नहीं है । यदि कहीं है भी तो उसमें नारी को नर से ही वरिष्ठ सिद्ध किया गया है और उसे पूजा योग्य ठहराया गया है । प्राचीनकाल में ऋषियों की तरह ऋषिकाएँ भी समस्त धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रयोजनों में समान रूप से सहभागिनी रही हैं । उनके द्वारा वेद संहिता की अनेकों ऋचाओं का अवतरण हुआ है । योग–तप एवं धर्म–कृत्यों में उनके समान सहयोग के प्रमाणों से अतीत का समस्त घटनाक्रम एवं वातावरण पूरी तरह साक्षी है । यज्ञ में नारी का साथ होना आवश्यक है । विवाह आदि संस्कारों में यज्ञ भी होता है और मन्त्रोच्चार भी । इसमें नर–नारी दोनों का ही समान भाग रहता है ।

गायत्री की प्रतिमा स्वयं नारी है । नारी की उपासना नारी भी

न करें–माता से बेटी को दूर रखा जाय इसका किसी भी दृष्टि से औचित्य नहीं है । नर और नारी दोनों को ही समान रूप से गायत्री उपासना समेत समस्त धर्म–कृत्यों का अधिकार है । इसके विरुद्ध जो अनर्गल प्रलाप किए जाते हैं–काने, कुबड़े प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, उन्हें भारतीय धर्म की आत्मा के सर्वथा प्रतिकूल ही माना जाना चाहिए । तथ्यहीन प्रतिगामिता की उपेक्षा करना ही श्रेयस्कर है । पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी गायत्री उपासना की परिपूर्ण अधिकारिणी हैं ।

गायत्री और यज्ञोपवीत

गायत्री साधना के लिए यज्ञोपवीत धारण करना ही चाहिए अथवा जो यज्ञोपवीत धारण करें वे ही गायत्री जपें, ऐसी चर्चाएँ प्रायः चलती ही रहती हैं ।

इस संदर्भ में इतना ही जानना पर्याप्त है कि यज्ञोपवीत गायत्री महामन्त्र का प्रतीक है । उसके नौ धागों में, गायत्री मन्त्र के नौ शब्दों में सन्निहित तत्वज्ञान भरा पड़ा है । तीन लड़ें त्रिपदा गायत्री की तीन धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं । तीन ग्रन्थियाँ तीन व्याहृतियाँ हैं । बड़ी ब्रह्मग्रन्थि को ॐकार कहा गया है । इस प्रकार पूरा यज्ञोपवीत एक सूत का बना धर्म ग्रन्थ है जिसको धारणकर्त्ता को मानवोचित रीति–नीति अपनाने का, अनुशासन सिखाने वाला अंकुश कह सकते हैं । इसे कन्धे पर धारण करने का तात्पर्य है गायत्री में सन्निहित सदाशयता को स्वीकार करना और उसे अपनाने की तत्परता का परिचय देना । शिवरात्रि पर गंगाजल की काँवर कन्धे पर रखकर चलने और शिव प्रतिमा पर चढ़ाने का उत्तर भारत में बहुत प्रचलन है । श्रवणकुमार ने अपने माता–पिता को कन्धे पर बिठाकर तीर्थयात्रा कराई थी । गायत्री–माता का अनुशासन कन्धे पर धारण करना, अपनाना ही यज्ञोपवीत धारण है । प्रकारान्तर से इसे शरीर पर गायत्री की सूत विनिर्मित प्रतिमा को धारण करना भी कह सकते हैं ।

देव प्रतिमा के सान्निध्य में उपासना करने का अधिक महत्व है, किन्तु यदि कहीं देवालय न हो तो भी उपासना करने में कोई निषेध नहीं है । इस प्रकार यज्ञोपवीत धारण करते हुए गायत्री का जप किया जाय तो देव प्रतिमा के सान्निध्य में की जाने वाली उपासना की तरह अधिक उत्तम है, पर यदि किसी कारणवश यज्ञोपवीत धारण करना न बन पड़े, तो भी इस उपासना के करने में किसी प्रकार की रोक-टोक या अड़चन नहीं है ।

गुरु की आवश्यकता

गायत्री को गुरु-मंत्र कहा गया है । इसका एक अर्थ यह भी है कि इसकी उच्चस्तरीय उपासना के लिए अनुभवी मार्गदर्शक एवं संरक्षक आवश्यक है । कुछ शिक्षाएँ ऐसी होती हैं, जो पुस्तकों के सहारे एकाकी भी प्राप्त की जा सकती हैं, पर कुछ ऐसी भी होती हैं, जिनमें अनुभवी व्यक्ति के सान्निध्य-सहयोग एवं मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है । संगीत, शिल्पकर्म, अक्षरारम्भ, उच्चारण जैसे कार्यों में दूसरों का प्रत्यक्ष सहयोग आवश्यक है । गायत्री उपासना की नित्यकर्म विधि तो सरल है, किन्तु उच्चस्तरीय साधना में व्यक्ति की विशेष स्थिति के अनुरूप उतार-चढ़ाव आते हैं और उसमें अनुभवी मार्गदर्शक की वैसी ही आवश्यकता रहती है जैसी कि रोग उपचार में चिकित्सक की । रोगी का अपने सम्बन्ध में लिया गया निर्णय प्रायः सही नहीं होता । इसलिए चिकित्सक का परामर्श एवं अनुशासन आवश्यक होता है । वही बात उपासना की उच्चस्तरीय प्रगति के सम्बन्ध में भी है ।

गुरु की नियुक्ति अनिवार्य तो नहीं पर आवश्यक अवश्य है । इस आवश्यकता की पूर्ति मात्र उच्च चरित्र, साधन विधान में निष्णात व्यक्ति ही कर सकते हैं । जब तक वैसा मार्गदर्शन न मिले तब तक प्रतीक्षा ही करनी चाहिए । उतावली में जिस-तिस को गुरु बना लेने से लाभ के स्थान पर हानि ही होती है । एक कक्षा पूरी

करके दूसरी में प्रवेश करने पर नये अधिक अनुभवी अध्यापक के सम्पर्क में जाना पड़ता है । इसी प्रकार सामान्य मंत्र दीक्षा लेते समय यदि सामान्य स्तर के गुरु का वरण किया गया हो तो उच्चस्तरीय साधना में अधिक योग्य गुरु का वरण भी हो सकता है । एक व्यक्ति के कई गुरु हो सकते हैं । संगीत, व्यापार, शिल्प, शिक्षा आदि के लिए जिस प्रकार एक ही समय में कई गुरुओं की सहायता लेनी पड़ती है, उसी प्रकार एक व्यक्ति के कई गुरु भी हो सकते हैं । भगवान राम के वशिष्ठ और विश्वामित्र दो गुरु थे, दत्तात्रेय के चौबीस गुरु थे ।

शिक्षा प्राप्त करने में नर–नारी दोनों को ही अध्यापक की सहायता आवश्यक होती है । उसी प्रकार अध्यात्म क्षेत्र के प्रगति प्रशिक्षण में भी बिना लिंग भेद के हर साधक को मार्गदर्शक का सहयोग लेना होता है । व्यवहार–व्यवस्था में स्त्रियों का गुरु पति, सास आदि भी हो सकते हैं, पर आत्मिक प्रगति में सहायता तो वही करेगा जो स्वयं उस विषय का निष्णात पारंगत हो । ऐसा व्यक्ति पति आदि भी हो सकता है, बाहरी भी ।

साधना में त्रुटि

गायत्री उपासना के क्रिया–कृत्यों में कोई त्रुटि रहने पर किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका तो नहीं है ? इस आशंका को मन से पूरी तरह निकाल देना चाहिए । सौम्य उपासना में ऐसा कोई खतरा नहीं है । गायत्री उपासना सौम्य स्तर की है । उसे मातृभक्ति के समतुल्य समझना चाहिए । माता से भी शिष्टाचार बरतना चाहिए, यह उचित है, पर किसी लोकाचार में कमी रह जाने पर भी सन्तान के मन में मातृभक्ति रहनी है और माता के मन में वात्सल्य बना रहने पर किसी अप्रिय घटना की कोई सम्भावना नहीं है । माता के मन में बच्चों के प्रति जो असीम वात्सल्य रहता है उसे देखते हुए कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वे मात्र क्रिया–कृत्य में

कोई भूल या कमी रहने पर अपने उपासक का कुछ अहित करने की बात सोचेंगी भी । त्रुटि रहने पर इतना ही हो सकता है कि सत्परिणाम में कुछ कमी रह जाय ।

गीता के अनुसार सौम्य उपासना में 'प्रत्यवाय' अर्थात् उल्टा परिणाम कभी नहीं हो सकता । उसका थोड़ा–सा अवलम्बन भी 'त्रायते महतो भयात्' अर्थात् अनिष्ट से रक्षा करता है । भगवान का नाम रुग्ण अवस्था में बिस्तर पर, अशुद्ध स्थिति में पड़े हुए भी लेते रहते हैं । भगवान इतना निष्ठुर नहीं है कि भक्त की भावना का ध्यान न रखे और विधि–विधान में कोई कमी रह जाने से रुष्ट होकर अपने भक्तजनों की ही हानि करने पर उतारू हो जाय । ऐसा तो कोई सर्प, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र ही कर सकता है–भक्त वत्सल भगवान नहीं ।

यह आशंका तान्त्रिक विधानों में गलती करने पर उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों की बात के आधार पर की गई है । तांत्रिक विधि–विधानों में भावना का उपयोग नहीं होता । वे भौतिक उद्देश्यों के लिए किए जाते हैं । उनके शरीर की हठ–साधना और प्रयोग सामग्री के उपचार ही प्रधान होते हैं । एक प्रकार से उन्हें भौतिक क्रिया–कृत्य कह सकते हैं । तान्त्रिक देवी–देवताओं की उपासना इसी स्तर की है । तेजाब के रख–रखाव में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है, तनिक भी भूल होने से खतरे का डर रहता है । आग या बिजली के उपयोग में भी सावधानी न बरतने पर हानि हो सकती है, किन्तु गौ–दुग्ध के प्रयोग में कोई खतरा नहीं है । इसमें पूरे लाभ की सम्भावना है । किन्तु किसी को भी यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि त्रुटि रहने पर माता के कोप का, प्रयोग के दुष्परिणाम का कोई संकट हो सकता है ।

गायत्री मंत्र कीलित है ?

गायत्री उपासना के दो मार्ग हैं–एक देव–मार्ग, दूसरा दैत्य–मार्ग । एक को वैदिक, दूसरे को तान्त्रिक कहते हैं । तन्त्रशास्त्र का हर मन्त्र कीलित है–अर्थात् प्रतिबन्धित है । इस प्रतिबन्ध को हटाये बिना वे मन्त्र काम नहीं करते । बन्दूक का घोड़ा जाम कर दिया जाता है, तो उसे दबाने पर भी कारतूस नहीं चलता । मोटर की खिड़की 'लॉक' कर देने पर वह तब तक नहीं खुलती जब तक उसका 'लॉक' न हटा दिया जाय । तान्त्रिक मन्त्रों में विघातक शक्ति भी होती है । उसका दुरुपयोग करने पर प्रयोक्ता को तथा अन्यान्यों को हानि उठानी पड़ सकती है । अनधिकारी–कुपात्र व्यक्तियों के हाथ में यदि महत्वपूर्ण क्षमता आ जाय तो वे आग के साथ खेलने वाले बालकों की तरह उसे नाश का निमित्त बना सकते हैं ।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भगवान शंकर ने समस्त तान्त्रिक मन्त्रों को कीलित कर दिया है । उत्कीलन होने पर ही वे अपना प्रभाव दिखा सकते हैं । तान्त्रिक सिद्धि–साधनाओं में उत्कीलन आवश्यक है । यह कृत्य अनुभवी गुरु द्वारा सम्पन्न होता है । किसी रोगी को क्या औषधि किस मात्रा में देनी चाहिए उसका निर्णय–निर्धारण कुशल चिकित्सक रोगी की स्थिति का सूक्ष्म अध्ययन करने के उपरान्त ही करते हैं । यही बात मंत्र–साधना के सम्बन्ध में भी है । किस साधक को, किस मंत्र का उपयोग, किस कार्य के लिए, किस प्रकार करना चाहिए, इसका निर्धारण ही उत्कीलन है । यों प्रत्येक तन्त्र–विधान का एक उत्कीलन प्रयोग भी है । 'दुर्गा सप्तशती' का पाठ आरम्भ करने से पूर्व कवच, कीलन, अर्गल अध्यायों का अतिरिक्त पाठ करना होता है । साधना के समय होने वाले आक्रमणों से सुरक्षा के लिए कवच मन्त्र, सुषुप्त शक्ति को प्रखर करने के लिए कीलक एवं सिद्धि के द्वार पर चढ़ी हुई अर्गला–सांकल को खोलने के लिए 'अर्गल' की प्रक्रिया सम्पन्न

की जाती है । 'दुर्गा सप्तशती' पाठ की तरह अन्यान्य तन्त्र–प्रयोगों में भी अपने–अपने ढंग से कवच, कीलक, अर्गल करने होते हैं । इनमें से कीलक का विशेष महत्त्व है । वही प्रख्यात भी है । इसलिए उत्कीलन उपचार के लिए अनुभवी मार्गदर्शक की सहायता प्राप्त करने के उपरान्त ही अपने पथ पर अग्रसर होते हैं ।

यह तान्त्रिक साधनाओं का प्रकरण है । वैदिक–पक्ष में इस प्रकार के कड़े प्रतिबन्ध नहीं हैं, क्योंकि वे सौम्य है । उनमें मात्र आत्म–बल बढ़ाने और दिव्य क्षमताओं को विकसित करने की ही शक्ति है । अनिष्ट करने के लिए उनका प्रयोग नहीं होता । इसलिए दुरुपयोग का अंश न रहने के कारण सौम्य मंत्रों का कीलन नहीं हुआ है । उनके लिए उत्कीलन की वैसी प्रक्रिया नहीं अपनानी पड़ती, जैसी कि तन्त्र प्रयोजनों में । फिर भी उपयुक्त शिक्षा एवं चिकित्सा के लिए उपयुक्त निर्धारण एवं समर्थ सहयोग, संरक्षण की तो आवश्यकता रहती ही है । उपयुक्त औषधियाँ उपलब्ध करने पर भी चिकित्सक के अनुभव एवं संरक्षण की उपयोगिता रहती है । रोगी अपनी मर्जी से अपना इलाज करने लगे, विद्यार्थी अपने मन से चाहे जिस क्रम से पढ़ने लगे, तो उसकी सफलता वैसी नहीं हो सकती, जैसी कि उपयुक्त सहयोग मिलने पर हो सकती है । बिना मार्गदर्शन, बिना सहयोग, संरक्षण के, एकाकी यात्रा पर चल पड़ने वाले अनुभवहीन यात्री को जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, वे ही स्वेच्छाचारी साधकों के सामने बनी रहती हैं । वे आश्रयहीन तिनके की तरह हवा के झोकों के साथ इधर–उधर भटकते–छितराते रहते हैं ।

इस दृष्टि से मार्गदर्शन इतनी मात्रा में तो सभी साधनाओं के लिए आवश्यक है कि उन्हें अनुभवी संरक्षण में सम्पन्न किया जाय । स्वेच्छाचार न बरता जाय । जो इस प्रयोजन को पूरा कर सकें, समझना चाहिए कि उनकी गायत्री–साधना का उत्कीलन हो गया और उनकी साधना सरल एवं सफलता सुनिश्चित है ।

गायत्री शाप मोचन

कई जगह ऐसा उल्लेख मिलता है कि गायत्री–मन्त्र को शाप लगा हुआ है । इसलिए शापित होने के कारण कलियुग में उसकी साधना सफल नहीं होती । ऐसा उल्लेख किसी आर्ष ग्रन्थ में कहीं भी नहीं है । मध्यकालीन छुट–पुट पुस्तकों में ही एक–दो जगह ऐसा प्रसंग आया है । इनमें कहा गया है कि गायत्री को ब्रह्मा, वशिष्ठ और विश्वामित्र ने शाप दिया है कि उसकी साधना निष्फल रहेगी, जब तक उसका शाप मोचन नहीं हो जाता । इस प्रसंग में 'शांप मुक्त भोव' वर्ग के तीन श्लोक भी हैं । उन्हें पाठ कर तीन चमची जल छोड़ देने भर से शाप–मोचन का प्रकरण समाप्त हो जाता है ।

यह प्रसंग बहुत ही आश्चर्यजनक है । पौराणिक उल्लेखों के अनुसार गायत्री ब्रह्माजी की अविच्छिन्न शक्ति है । कहीं–कहीं तो उन्हें ब्रह्मा–पत्नी भी कहा गया है । वशिष्ठ वे हैं जिनने गायत्री के तत्वज्ञान को देवसत्ता से हस्तगत करके मनुष्योपयोगी बनाया । वशिष्ठजी के पास कामधेनु की पुत्री नन्दिनी थी । स्वर्ग में गायत्री को कामधेनु कहा गया है और उसके पृथ्वी संस्करण का नाम नन्दिनी दिया गया । वशिष्ठ की प्रमुख शक्ति वही थी । इसके आधार पर उन्होंने ऋषियों में वरिष्ठता प्राप्त की । एक बार प्रतापी राजा विश्वामित्र से विग्रह हो जाने पर नन्दिनी के प्रताप से उनके धुर्रे बिखेर दिए । उसी ब्रह्मशक्ति से प्रभावित होकर राजा विश्वामित्र विरक्त बने और गायत्री की प्रचण्ड साधना में संलग्न रहकर गायत्री मन्त्र के दृष्टा व साक्षात्कार कर्त्ता, निष्णात एवं सिद्ध पुरुष बने । गायत्री के विनियोग संकल्प में सविता देवता, गायत्री छन्द, विश्वामित्र ऋषि का वाचन होता है । इससे स्पष्ट है कि गायत्री विद्या के अन्तिम पारंगत ऋषि होने का श्रेय विश्वामित्र को ही प्राप्त है ।

प्रस्तुत प्रतिपादनों में स्पष्ट है कि ब्रह्मा–वशिष्ठ और विश्वामित्र तीनों की ही आराध्य एवं शक्ति निर्झरिणी गायत्री ही रही है । उसी

के प्रताप से उन्होंने वर्चस्व पाया है । विष्णु के कमल नाभि से उत्पन्न होने के उपरान्त आकाशवाणी द्वारा निर्दिष्ट गायत्री की उपासना करके ही ब्रह्माजी सृष्टि निर्माण की शक्ति प्राप्त कर सके और उसी महाविद्या के व्याख्यान में उन्होंने चार मुखों से चार वेदों का सृजन किया । ब्रह्माजी गायत्री के ही मूर्तिमान संस्करण कहे जा सकते हैं ।

ऐसी दशा में ब्रह्मा, वशिष्ठ, और विश्वामित्र गायत्री की साधना के निष्फल चले जाने का शाप देकर अपने पैरों कुल्हाड़ी क्यों मारेंगे ? स्वयं हतवीर्य क्यों बनेंगे और समस्त संसार को इस कल्पवृक्ष का लाभ उठाने से वंचित क्यों करेंगे ? यह ऐसी अनबूझ पहेली है, जिसका समाधान कहीं से भी नहीं सूझता ।

लगता है मध्यकाल में जब चतुर धर्माध्यक्षों में अपना स्वतंत्र मत चलाने की प्रतिस्पर्द्धा जोरों पर थी, तब उनने गायत्री की सर्वमान्य उपासना को निरस्त करके उसका स्थान अपनी प्रतिपादित उपासनाओं को दिलाने का प्रयत्न किया होगा । इसके लिए पूर्व मान्यता हटाने की बात मस्तिष्क में आई होगी । सीधा आक्रमण करने से सफलता की सम्भावना न देखकर बगल से हमला किया होगा । गायत्री की सर्वमान्य महत्ता को धूमिल करने के लिए, उसे शापित, कीलित होने के कारण निष्फल होने की बात कहकर लोगों में निराशा, अश्रद्धा उत्पन्न करने का प्रयत्न चला होगा और उस मनःस्थिति से लाभ उठाकर अपने सम्प्रदाय का गुरुमंत्र लोगों को गले उतारा होगा ।

इसके अतिरिक्त और कोई कारण समझ में नहीं आता जिसके आधार पर गायत्री महाशक्ति के प्रमुख उपासकों द्वारा शाप देकर व्यर्थ कर दिये जाने जैसी ऊल-जलूल बात कही जा सके । सूर्य को, बादलों को, पवन को, बिजली को, पृथ्वी को कौन शाप दे सकता है ? इतना बड़ा शाप दे सकने की सामर्थ्य इस धरती के निवासियों की तो हो नहीं सकती । अस्तु, गायत्री को शाप लगने और उसके निष्फल होने की बात को किसी विकृत मस्तिष्क की उपज ही कहा जा सकता है । उसे मान्यता देने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है । हर कोई बिना

किसी शंका-कुशंका के गायत्री उपासना कर सकता है और उसके सत्परिणामों की आशा कर सकता है ।

शाप लगने की बात को एक बुझौअल के रूप में अधिक से अधिक इतना ही महत्व दिया जा सकता है कि वशिष्ठ जैसे विशिष्ट और विश्वामित्र जैसा विश्व-मानवता का पोषक व्यक्ति सहयोगी, मार्गदर्शक मिलने पर इस महान साधना के अधिक सफल होने की आशा है । जिसे ऐसा गुरु न मिलेगा उसे अँधेरे में टटोलने वाले की तरह असफल रह जाने की भी संभावना हो सकती है । गायत्री को गुरुमंत्र कहा गया है । उसकी सफलता ब्रह्म-विद्या में पारंगत वशिष्ठ स्तर के एवं तपश्चर्या की अग्नि परीक्षा में खरे उतरे हुए विश्वामित्र स्तर के गुरु मिल जाने पर सुनिश्चित होती है अन्यथा शाप लगने और निष्फल जाने का भय बना ही रहेगा ।

अशौच में प्रतिबन्ध

जन्म और मरण का सूतक तथा स्त्रियों का रजोदर्शन होने की अवधि को अस्पर्श जैसी स्थिति का माना जाता है । उन दिनों गायत्री उपासना भी बन्द रखने के लिए कहा जाता है । इसके औचित्य-अनौचित्य का विश्लेषण करने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि सूतक एवं रजोदर्शन के समय सम्बन्धित व्यक्तियों के पृथक रखने का कारण उत्पन्न हुई अशुद्धि की छूत से अन्यों को बचाना है । साथ ही इन अव्यवस्था के दिनों में उन्हें शारीरिक, मानसिक श्रम से बचाना भी है । यह सभी बातें विशुद्ध रूप से स्वच्छता-नियमों के अन्तर्गत आती हैं । अस्तु प्रतिबन्ध भी उसी स्तर के होने चाहिए, जिससे अशुद्धता का विस्तार न होने पाये । विपन्न स्थितियों में फँसे हुए व्यक्तियों पर से यथासम्भव शारीरिक मानसिक दबाव कम करना इन प्रतिबन्धों का मूलभूत उद्‌देश्य है ।

भावनात्मक उपासना क्रम इन अशुद्धि के दिनों में भी जारी रखा जा सकता है । विपन्नता की स्थिति में ईश्वर शरणागति, उसकी

उपासनात्मक समीपता हर दृष्टि से उत्तम है । उन दिनों यदि प्रचलित छूत परम्परा को निभाना हो तो इतना ही पर्याप्त है कि पूजा उपकरणों का स्पर्श न किया जाय । देव पूजा का विधान कृत्य न किया जाय । मानसिक उपासना में किसी भी स्थिति में कोई प्रतिबन्ध नहीं है । मुँह बन्द करके, बिना माला का उपयोग किए, मानसिक जप-ध्यान इन दिनों भी जारी रखा जा सकता है । इससे अशुद्धि का भाव हल्का होने में भी सहायता मिलती है ।

सूतक किसको लगा, किसको नहीं लगा, इसका निर्णय इसी आधार पर किया जा सकता है कि जिस घर में बच्चे का जन्म या किसी का मरण हुआ है, उसमें निवास करने वाले प्रायः सभी लोगों को सूतक लगा हुआ माना जाय । वे भले ही अपने जाति-गोत्र के हों या नहीं, पर उस घर से अन्यत्र रहने वाले, निरन्तर सम्पर्क में न आने वालों पर सूतक का कोई प्रभाव नहीं हो सकता, भले ही वे एक कुटुम्ब-परम्परा या वंश, कुल के क्यों न हों । वस्तुतः सूतक एक प्रकार की अशुद्धिजन्य छूत है, जिसमें संक्रामक रोगों की तरह सम्पर्क में आने वालों को लगने की बात सोची जा सकती है । यों तो अस्पतालों में भी छूत और अशुद्धि का वातावरण रहता है, पर सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों अथवा साधनों को उससे बचाने की सतर्कता रखने पर भी सम्पर्क और सामंजस्य बना ही रहता है । इतना भर होता है कि अशुद्धि से सम्पर्क के समय विशेष सतर्कता रखी जाय । जन्म-मरण के सूतकों के विषय में भी इसी दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए । पूजापरक कृत्यों में स्वच्छता का विशेष ध्यान रखने का नियम है । इसी से उन दिनों नियमित पूजा-उपचार में प्रतिमा, उपकरण आदि का स्पर्श न करने की प्रथा चली होगी । उस प्रचलन का निर्वाह न करने पर भी मौन-मानसिक जप-ध्यान आदि व्यक्तिगत उपासना का नित्यकर्म करने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं पड़ता ।

महिलाओं के रजोदर्शन काल में भी कई प्रकार के प्रतिबन्ध हैं,

वे अछूत की तरह रहती हैं । भोजन आदि नहीं पकातीं । उपासनागृह में भी नहीं जातीं । इसका कारण मात्र अशुद्धि ही नहीं यह भी है कि उन दिनों उन पर कठोर श्रम का दबाव न पड़े । अधिक विश्राम मिल सके । नस–नाड़ियों में कोमलता बढ़ जाने से उन दिनों अधिक कड़ी मेहनत न करने की व्यवस्था स्वास्थ्य के नियमों को ध्यान में रखते हुए बनी होगी । इन प्रचलनों को जहाँ माना जाता है वहाँ कारण को समझते हुए भी प्रतिबन्ध किस सीमा तक रहें इस पर विचार करना चाहिए । रुग्ण व्यक्ति प्रायः स्नान आदि के सामान्य नियमों का निर्वाह नहीं कर पाते और ज्वर, दस्त, खाँसी आदि के कारण उनकी शारीरिक स्थिति में अपेक्षाकृत अधिक मलीनता रहती है । रोगी परिचर्या के नियमों से अवगत व्यक्ति जानते हैं कि रोगी की सेवा करने वालों या सम्पर्क में आने वालों को सतर्कता, स्वेच्छा के नियमों का अधिक ध्यान रखना पड़ता है । रोगी को भी दौड़–धूप से बचने और विश्राम करने की सुविधा दी जाती है । उसे कोई चाहे तो छूतछात भी कह सकते हैं । ऐसी ही स्थिति रजोदर्शन के दिनों में भी समझी जानी चाहिए और उसकी सावधानी बरतनी चाहिए ।

तिल को ताड़ बनाने की आवश्यकता नहीं है । कारण और निवारण का बुद्धिसंगत ताल–मेल विवेकपूर्वक बिठाने में ही औचित्य है । शरीर के कतिपय अंग द्रवमल विसर्जन करते रहते हैं । पसीना, मूत्र, नाक, आँख आदि के छिद्रों से निकलने वाले द्रव भी प्रायः उसी स्तर के हैं जैसा कि ऋतुस्राव । चोट लगने पर भी रक्त निकलता रहता है । फोड़े फूटने आदि से भी प्रायः वैसी ही स्थिति होती है । इन अवसरों पर स्वच्छता के आवश्यक नियमों का ध्यान रखा जाना चाहिए । बात का बतंगड़ बना देना अनावश्यक है । प्रथा–प्रचलनों में कई आवश्यक हैं कई अनावश्यक । कइयों को कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए और कइयों की उपेक्षा की जानी चाहिए । सूतक और अशुद्धि के प्रश्न को उसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए जिससे कि प्रचलन कर्त्ताओं ने उसे आरम्भ किया

था । उनका उद्देश्य उपासना जैसे आध्यात्मिक नित्यकर्म से किसी को विरत, वंचित करना नहीं वरन् यह था कि अशुद्धता सीमित रहे, उसे फैलने का अवसर न मिले । आज भी जहाँ अशौच का वातावरण है वहीं सूतक माना जाय और शरीर से किए जाने वाले कृत्यों पर ही कोई रोकथाम की जाय । मन से उपासना करने पर तो कोई स्थिति बाधक नहीं हो सकती । इसलिए नित्य की उपासना मानसिक रूप से जारी रखी जा सकती है । पूजा–उपकरणों का स्पर्श न करना हो तो न भी करे ।

यदि सूतक या अशौच के दिनों में अनुष्ठान चल रहा हो तो उसे उतने दिन के लिए बीच में बन्द करके, निवृत्ति के बाद, जिस गणना से छोड़ा था, वहीं से फिर आरम्भ किया जा सकता है । बिना माला का मानसिक जप–ध्यान किसी भी स्थिति में करते रहा जा सकता है ।

अनुष्ठान के नियमोपनियम

साधारण स्तर का जीवनक्रम अपनाकर की गई उपासना नित्य नियम है । अनुष्ठान का स्तर विशेष है–उसके साथ अनेकों प्रतिबन्ध, नियम, विधान जुड़े रहते हैं । अतएव उसका प्रतिफल भी विशेष होता है । पुरश्चरण का विशेष विधि–विधान है । उसमें अनेक प्रयोजनों के लिए अनेक मन्त्रों एवं कृत्यों का प्रयोग करना पड़ता है । वह कर सकना उस प्रयोजन के लिए, प्रशिक्षित संस्कृतज्ञों के लिए ही संभव है । साधारणतया अनुष्ठानों का ही प्रचलन है सर्वसाधारण के लिए वे ही सरल हैं ।

अनुष्ठान तीन स्तर के हैं । लघु–चौबीस हजार जप का ९ दिन में सम्पूर्ण होने वाला । मध्यम–सवालक्ष का चालीस दिन में होने वाला । उच्च–चौबीस लाख जप का एक वर्ष में सम्पन्न होने वाला । लघु में सत्ताईस माला, मध्यम में तेतीस माला और उच्च में छियासठ माला नित्य जपनी होती हैं । औसत एक घण्टे में दस–ग्यारह माला जप होता है । इस हिसाब से लघु और मध्यम में प्रायः तीन घण्टे

और उच्च में छः घण्टे नित्य लगते हैं । यह क्रम दो या तीन बार में भी थोड़ा–थोड़ा करके पूरा हो सकता है । यों प्रातःकाल का ही समय सर्वोत्तम है । शरीर, वस्त्र तथा उपकरणों की शुद्धता, षट्कर्म, पंचोपचार, जप, ध्यान, सूर्यार्घ्यदान यही उपक्रम हैं । पूजा वेदी पर छोटा जल–कलश और अगरबत्ती रखकर (जल, अग्नि की साक्षी मानी जाती है) चित्र, प्रतिमा का पूजन, जल, अक्षत, चन्दन, पुष्प, नैवेद्य से किया जाता है । आवाहन, विसर्जन के लिए आरम्भ और अन्त में गायत्री मंत्र सहित नमस्कार किया जाता है ।

जप के साथ हवन जुड़ा हुआ है । प्राचीन काल में जब हर प्रकार की सुविधा थी तब जप का दशांश हवन किया जाता था । आज की स्थिति में शतांश पर्याप्त है । चौबीस हजार के लिए दो सौ चालीस, सवा लक्ष के लिए बारह सौ पचास, चौबीस लक्ष के लिए चौबीस हजार आहुतियाँ देनी चाहिए, यह एक परम्परा है । स्थिति के अनुरूप आहुतियों की संख्या न्यूनाधिक भी हो सकती है, पर होनी अवश्य चाहिए । अनुष्ठान में जप और हवन दोनों का ही समन्वय है । गायत्री माता और यज्ञ पिता का अविच्छिन्न युग्म है । दो विशिष्ट साधनाओं में दोनों को साथ रखकर मिलाना होता है । हवन हर दिन भी हो सकता है और अन्तिम दिन भी । हर दिन न करना हो तो जितनी माला हों उतनी आहुतियाँ । अन्तिम दिन करना हो तो समूचे जप का शतांश । यज्ञवेदी पर कई व्यक्ति बैठते हैं तो सम्मिलित आहुतियों की गणना होती है । जैसे हवन पर पाँच व्यक्ति बैठे हों तो उनके द्वारा दी गई सौ आहुतियाँ पाँच सौ मानी जायेंगी । २४० आहुतियों के लिए छः व्यक्ति एक साथ बैठकर हवन करें तो चालीस बार आहुतियाँ प्रदान करने से ही वह संख्या पूरी हो जायगी ।

पुरश्चरणों में तर्पण, मार्जन, न्यास, कवच, कीलक, अर्गल आदि के कितने ही विशिष्ट विधान हैं । अनुष्ठानों में इनमें से किसी की भी आवश्यकता नहीं है । जप, हवन के उपरान्त ब्रह्मभोज ही पूर्णाहुति का अन्तिम चरण पूरा करने के लिए आवश्यक होता है ।

यह कार्य ब्राह्मणों या कन्याओं को भोजन कराने के साथ पूरा होता है । सच्चे ब्राह्मण ढूँढ़ पाना अति कठिन है । जो हैं वे परान्न खाने को तैयार नहीं होते । कन्याओं को मातृ शक्ति का प्रतीक मानकर भाव-पवित्रता का संवर्धन करने के लिए भोजन कराया जा सकता है, पर उसमें भी यही व्यवधान आता है कि स्वाभिमानी अभिभावक इसके लिए भी तैयार नहीं होते । ढूँढ़ निकाली भी जायें तो दान की प्रतिक्रिया का अनुमान लगाने पर उसका परिणाम भी कुछ उत्साहवर्धक नहीं दीखता । इन परिस्थितियों में ब्रह्मभोज का सही स्वरूप ब्रह्मदान हो सकता है । ब्रह्मदान अर्थात् सद्ज्ञान का दान । यह युग निर्माण साहित्य के वितरण द्वारा पूरा हो सकता है । एक-एक आहुति पर एक नया पैसा ब्रह्मदान के लिए निकाला जाय । दो सौ चालीस आहुतियाँ चौबीस हजार के अनुष्ठान के लिए देनी हैं तो दो सौ चालीस पैसे का प्रसाद साहित्य भी सत्पात्रों को वितरण करना चाहिए । इससे सद्ज्ञान का बीजारोपण अनेक अन्तःकरणों में होता है और उसका सत्परिणाम पढ़ने और पढ़ाने वाले दोनों को ही समान रूप से मिलता है ।

अनुष्ठान में अधिक अनुशासन पालन करना पड़ता है । जप का समय, संख्या, दैनिक क्रम एक साथ बनाकर चलना पड़ता है । अनिवार्य कारण आ पड़े तो बात दूसरी है अन्यथा उपासना का निर्धारण क्रम आदि से अन्त तक एक रस ही चलते रहना चाहिए । उसमें उलट-पुलट अनिवार्य कारण होने पर ही करना चाहिए और वह भी न्यूनतम मात्रा में ।

अनुष्ठान के दिनों में पाँच तप-संयम साधने पड़ते हैं- (१) उपवास (२) ब्रह्मचर्य (३) अपनी सेवा अपने हाथ से (४) भूमिशयन (५) चमड़े का प्रयोग त्याग । अनुष्ठान के दिनों में चमड़े के जूते आदि का प्रयोग न किया जाय । प्लास्टिक, रबड़, कपड़ा आदि की बनी वस्तुएँ आजकल चमड़े के स्थान पर हर जगह प्रयुक्त होती हैं । वही किया जाय । भूमिशयन सर्वोत्तम है । सीलन, कीड़े आदि का

भय हो तो तख्त पर सोया जा सकता है । हजामत, कपड़े धोना जैसी दैनिक जीवन की शारीरिक आवश्यकताएँ नौकरों से न कराएँ, स्वयं करें । भोजन अपने हाथ से बना सकना संभव न हो तो स्त्री, माता, बहिन आदि उन्हीं अति निकटवर्ती स्वजनों के हाथ का बनाया स्वीकार करें, जिनके साथ आत्मीयता का आदान–प्रदान चलता है । बाजार से पका हुआ तो नहीं ही खरीदें । ब्रह्मचर्य अनुष्ठान के दिनों में आवश्यक है । शारीरिक ही नहीं मानसिक भी पाला जाना चाहिए । कामुक कुदृष्टि पर नियंत्रण रखा जाय । सम्पर्क में आने वाली नारियों को माता, बहिन या पुत्रीवत् पवित्र भाव से देखा जाय । यही बात पुरुषों के सम्बन्ध में नारियों पर लागू होती है । पाँचवीं तपश्चर्या भोजन की है । यह उपवास काल है । उपवास कई स्तर के होते हैं–(१) छाछ, दूध आदि पेय पदार्थों पर रहना (२) शाक–फल के सहारे काम चलाना (३) नमक, शकर का त्याग अर्थात् अस्वाद (४) एक समय आहार (५) दो खाद्य पदार्थों पर अनुष्ठान की अवधि काटना ।

अनुष्ठान के यही मोटे नियम हैं । इसके अतिरिक्त जो तरह–तरह की बातें कहीं जाती हैं और परस्पर विरोधी नियम बताये जाते हैं उन पर ध्यान न दिया जाय ।

अनुष्ठान में कोई भूल हो जाने पर त्रुटि रहने पर भी किसी अनिष्ट की आशंका न करनी चाहिए । फिर भी उन दिनों कोई विघ्न उत्पन्न न होने पाये इसके लिए संरक्षण और ज्ञाताज्ञात में रही हुई त्रुटियों का परिमार्जन करने के लिए अनुष्ठान साधना के लिए कोई समर्थ संरक्षक नियुक्त कर लेना चाहिए । यह सेवा शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार से भी ली जा सकती है । अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति का परिचय तथा समय लिख भेजने से संरक्षण, परिमार्जन सर्वथा निस्वार्थ भाव से होता रहता है । यह व्यवस्था करने पर साधना की सफलता और भी अधिक सुनिश्चित हो जाती है ।

एक के द्वारा दूसरे के लिए जप–अनुष्ठान

जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने धन–साधनों का अनुदान दूसरे अभावग्रस्तों को दे सकता है, उसी प्रकार उपासना द्वारा अर्जित तप भी दूसरों के निमित्त उदारतापूर्वक किया जाता है । इसी प्रकार तप देने वाले का जो कोष खाली होता है, वह बदले में मिलने वाले पुण्य से फिर भर जाता है । दानी को पुण्य मिलता है । इस प्रकार वह एक वस्तु देकर दूसरी प्राप्त कर लेता है और घाटे में नहीं रहता । कष्ट पीड़ितों की व्यथा हरने वाला कोई व्यक्ति सत्प्रयत्नों को सफल बनाने के लिए, अपने जप–तप का दान देता रहे तो उसकी यह परमार्थ परायणता आत्मोन्नति में बाधक नहीं, सहायक ही सिद्ध होगी । वरदान, आशीर्वाद देने की परम्परा यही है । इसमें इतना ही ध्यान रखा जाय कि मात्र औचित्य को ही सहयोग दिया जाय । अनाचार को परिपुष्ट करने के लिए अपनाई गई उदारता भी प्रकारान्तर से स्वयं अनाचार करने की तरह ही पाप कर्म बन जाती है । इसलिए किसी की सहायता करते समय यह ध्यान भी रखना चाहिए कि इस प्रकार की सहायता से अनीति का पक्ष पोषण तो नहीं होता ।

पैसा देकर बदले में कल्याण के निमित्त कराये गये जप, अनुष्ठानों में सफलता तभी मिलती है जब कि फीस (पारिश्रमिक) के रूप में नहीं वरन् कर्त्ता ने अनिवार्य निर्वाह के लिए न्यूनतम मात्रा में ही उसे स्वीकार किया हो । व्यवहार या लूट–खसोट की दृष्टि से मनमाना पैसा वसूल करने वाले लालची अनुष्ठान कर्त्ताओं का प्रयत्न नगण्य परिणाम ही प्रस्तुत कर सकता है ।

अनुष्ठान आदि की विशिष्ट साधनाएँ, चाहे स्वयं की गई हों या दूसरे किसी से कराई गई हों, उनमें हर हालत में तपश्चर्या के नियमों का पालन करना आवश्यक है । आहार की सात्विकता, ब्रह्मचर्य पालन, अपनी सेवा आप करना जैसे नियम हर अनुष्ठान कर्त्ता के लिए आवश्यक हैं, भले ही वह अपने निमित्त किया गया हो या

दूसरे के लिए । इन नियमों का पालन न करने पर, मात्र जप-संख्या पूरी करने से अनुष्ठान का लाभ नहीं मिलता ।

जहाँ तक हो सके अपनी साधना स्वयं ही करनी चाहिए । विपत्ति के समय वह दूसरे से भी कराई जा सकती है, पर उसकी आन्तरिक भावना और बाह्य आचरण प्रक्रिया साधु-ब्राह्मण स्तर की ही होनी चाहिए । प्राचीनकाल में ऐसे कृत्यों के लिए ब्राह्मण वर्ग के लोगों को महत्व दिया जाता था । उन दिनों के ब्राह्मण-ब्रह्म-तत्व के ज्ञाता, उच्च चरित्र और आचरण-व्यवहार में देवोपम रीति-नीति अपनाने वाले थे । इसलिए उनकी श्रेष्ठता स्वीकार की जाती थी और उन्हें देव कर्मों का उत्तरदायित्व सौंपा जाता था । आज वैसे ब्राह्मण मिलने कठिन हैं जो वंश से नहीं गुण, कर्म, स्वभाव की कसौटी पर अपने स्तर के अनुरूप खरे उतरते हों । विशिष्टता न रहने पर विशिष्ट स्तर एवं विशेष अधिकार भी नहीं रहता । आज की स्थिति में ब्राह्मण-अब्राह्मण का अन्तर कर सकना कठिन है । वंश और वेष की प्रभुता प्राचीनकाल में भी अमान्य थी और आज भी अमान्य ही रहेगी ।

जहाँ तक अनुष्ठान का, उससे सम्बन्धित यज्ञादि कर्मों का सम्बन्ध है, उसे स्वयं ही करना सर्वोत्तम है । यदि दूसरे से कराना हो तो वंश-वेष को महत्व न देकर उसे किसी चरित्रवान, निर्लोभ, निष्ठावान साधक प्रकृति के व्यक्ति से ही उसे कराना चाहिए । ऐसा व्यक्ति किस वंश या कुल का है इसका महत्व नहीं ।

अखण्ड जप करें-अखण्ड यज्ञ नहीं

गायत्री जयन्ती, गुरु पूर्णिमा, बसन्त पंचमी आदि पर्वों पर अखण्ड गायत्री जप रखा जाता है । जिस समय से आरम्भ करते हैं उसी समय पर समाप्ति भी होती है । २४ घण्टे में प्रायः आधा समय दिन का और आधा रात्रि का होता है । दिन में मंत्र उच्चारण सहित और रात्रि में मानसिक जप करने की परम्परा है । अखण्ड जप में एक ही विधि रखी

जाती है । दिन में एक प्रकार और रात्रि में दूसरी प्रकार नहीं करते । इसलिए पूरा अखण्ड जप मानसिक ही होना उपयुक्त रहता है । इसमें एकरसता बनी रहती है । यों जहाँ कहीं दिन और रात्रि के अन्तर को ध्यान में रखते हुए वाचिक और मानसिक जप की भिन्नता रखी जा सके, वहाँ वैसा भी हो सकता है । सरलता मानसिक जप में ही रहती है ।

यज्ञ अखण्ड करने का विधान नहीं है । वह नियत समय में ही समाप्त होना चाहिए । यज्ञ का उपयुक्त समय दिन है । दिन में कीड़े–मकोड़े अग्नि में न जा पहुँचे, इसका ध्यान रखा जा सकता है । रात्रि में कृत्रिम प्रकाश उत्पन्न कर लेने पर भी ऐसी स्थिति नहीं बन पड़ती कि छोटे कीड़ों को पूरी तरह देख सकना या रोक सकना सम्भव हो सके । सर्वविदित है कि पतंगों से लेकर छोटे कृमि–कीटक दिन की अपेक्षा रात्रि में ही अपनी गतिविधियाँ अधिक विस्तृत करते हैं । इसलिए रात्रि में हिंसा की सम्भावना अधिक रहने, सतर्कता कम बन पड़ने की स्थिति को ध्यान में रखते हुए सूर्य की उपस्थिति में ही यज्ञ करने की परम्परा है । ऐसे समय में रात्रि के समय भी यज्ञ जारी रखने का औचित्य नहीं है ।

विवाह–शादियाँ प्रायः रात्रि के समय होने का ही प्रचलन है । उस सयम अग्निहोत्र होता है, पर वह अपवाद है । यों विवाह विधि भी शास्त्र परम्परा के अनुसार दिन में ही होनी चाहिए और उसका अग्निहोत्र भाग भी दिन में ही निपटाना चाहिए, पर लोगों ने सुविधा का ध्यान रखते हुए रात्रि को फुरसत में विवाह की धूमधाम करने का रास्ता निकाल लिया है । दिन में करने से दिन के अन्य कामों का हर्ज होता है । ऐसे कारणों से विवाह जैसे अवसरों पर अपवाद रूप से रात्रि में ही हवन होते हैं ।

वस्तुतः तांत्रिक 'मख' रात्रि के सुनसान वातावरण में, श्मशान में, खण्डहर जैसे वीभत्स स्थानों में करने की विधि–व्यवस्था है । यज्ञ वैदिक होते हैं और मख तांत्रिक । मख कृत्यों में अभक्ष और अस्पर्श्य जैसे पदार्थ भी होमे जाते हैं । उनका दृश्य कुरुचिपूर्ण होता

है । इसलिए उन्हें अविज्ञात, एकान्त एवं निस्तब्ध वातावरण में सम्पन्न किया जाता है । निशाचरी कृत्य तमोगुण प्रधान एवं अनैतिक होते हैं । उन्हें गुह्य ही रखा जाता है । प्रकट होने पर विरोध–विग्रह का ही डर रहता है । हिंसा–अहिंसा का भी उसमें ध्यान नहीं रखा जाता है । अतएव होलिका दहन, चिता प्रज्वलन जैसे मख–कृत्यों को छोड़कर रात्रि के समय देव यज्ञ नहीं किये जाते । प्रचलन फैल जाने के कारण विवाह संस्कार ही इसका अपवाद है । यों उनमें गोधूलि बेला का मुहूर्त उत्तम माना गया है ।

अखण्ड जप रखना ही पर्याप्त है । अखण्ड यज्ञ का अत्युत्साह न दिखाया जाय । घृत दीप और अगरबत्ती जलाते रहने से हवन की संक्षिप्त प्रक्रिया पूरी होती रह सकती है । अखण्ड जप के साथ ही चौबीस घण्टे घृतदीप जलाने और धूपबत्ती प्रज्ज्वलित करने की व्यवस्था बना दी जाय तो प्रकारान्तर से ही अखण्ड यज्ञ की विधि भी भाव दृष्टि से पूरी हो सकती है । यज्ञ दिन में ही किये जायें ।

अखण्ड जप की एक पद्धति चौबीस घण्टा जप की है । दूसरी सूर्योदय से सूर्यास्त तक जप जारी रखने की भी है । उसे भी अखण्ड संज्ञा दी जानी चाहिए । सविता की उपस्थिति में वाचिक और व्यवस्थित जप ही यदि अभीष्ट हो तो चौबीस घण्टे के स्थान पर सूर्योदय तक भी सामूहिक जप किया जा सकता है ।

जप–यज्ञ के समय के वस्त्र

जप तथा यज्ञ में ऐसे वस्त्र धारण किए जाते हैं जो शरीर से अधिक चिपकें नहीं, प्राण तत्व को भीतर खींचने और कल्मषों को बाहर निकालने की उस समय की प्रक्रिया में बाधा न पहुँचायें । प्राचीनकाल में धोती और दुपट्टा–दो ही वस्त्र इन प्रयोजनों में काम आते थे । शरीर पर न्यूनतम वस्त्र रहें, जो रहें वे ढीले हों, वायु के आवागमन में बाधक न होते हों, वही उपासना के समय धारण करने योग्य माने गये हैं । यज्ञ में यह बात विशेष रूप से ध्यान

रखने योग्य है, क्योंकि अग्निहोत्र की उपयोगी ऊर्जा रोम छिद्रों के द्वारा भीतर प्रवेश करती है, त्वचा पर प्रभाव डालती है । उसे गर्मी के भीतर प्रवेश करने पर भीतर से भाप, पसीना और साथ ही अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ बाहर निकालती हैं । यदि कपड़े भारी, मोटे या कसे हुए रहेंगे तो उपरोक्त दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति में कठिनाई पड़ेगी और साधक घाटे में रहेगा ।

धोती सबसे ढीला वस्त्र है । उससे लज्जा आच्छादन ठीक प्रकार होता है । कटि प्रदेश और जंघायें लज्जा के अवयव माने गये हैं । वे पाजामे में भी उतनी अच्छी तरह नहीं ढकते जितना कि भारतीय संस्कृति के अनुसार आवश्यक है । इसी प्रकार पाजामे का कमरबन्द नीचे की मुहरी, शरीर के साथ उसका चिपका रहना, यज्ञ के लाभों में बाधा उत्पन्न करता है । अधिक खुली हवा के आवागमन के अधिक अनुकूल होने के कारण धोती ही अधिक उपयुक्त है । भारतीय संस्कृति का यही प्रतीक परिधान भी है । जिसका अन्य समय में न सही धार्मिक कृत्यों में तो स्थान बना ही रहना चाहिए ।

शरीर पर धारण किए जाने वाले वस्त्रों में कुर्त्ता सीधा, सरल, सादगी का प्रतीक एवं सस्ता है । वायु का आगमन निर्बाध रूप से होता रहे ऐसी ही उसकी बनावट है । भारत की सांस्कृतिक पोशाक की दृष्टि से भी कुर्त्ता ऐसा परिधान है जिसे धार्मिकता एवं सांस्कृतिक एकता के प्रतीक रूप में मान्यता मिल सकती है । वह आसानी से नित्य धोया जा सकने योग्य है ।

ऐसे कपड़े जो शरीर पर चिपके रहते हैं–नित्य नहीं धुलते उनको धार्मिक किया–कृत्यों में धारण न किया जाय तो ही अच्छा है । मोजे हर हालत में उतार देने चाहिए, उनकी गन्दगी लगभग जूते के ही समतुल्य होती है ।

जिन प्रदेशों में धोती–कुर्त्ते का रिवाज नहीं है, बनाना भी कठिन है, वहाँ पाजामा के उपयोग की भी छूट मिल सकती है, पर वह भी धुला हुआ हो तो यह ध्यान रखा जाय । जहाँ आसानी से धोती–कुर्त्ते का प्रबन्ध हो सकता है, वहाँ तो उसके लिए जोर दिया

ही जाय । इस सन्दर्भ में आलस्य या उपेक्षा न बरतें । कंधे पर पीला दुपट्टा धर्मानुष्ठानों के लिए शास्त्रोक्त परिधान है । जहाँ तक संभव हो जप, साधना यज्ञ–प्रक्रिया आदि के अवसर पर कंधे पर पीला दुपट्टा रखा जाय । इसमें सांस्कृतिक एकता एवं भावनात्मक समस्वरता का समावेश है । इसलिए यथासम्भव सभी धर्मकृत्यों में धोती, कुर्त्ता, पीला दुपट्टा धारण करने पर जोर दिया जाय, पर इसे इतना कड़ा प्रतिबन्ध न माना जाय कि किसी श्रद्धालु को मात्र इसी कारण सम्मिलित होने से रोका जाय । अच्छा यह है कि सामूहिक आयोजनों में कुछ सैट इस प्रकार के रखे जायें जिन्हें लोग प्रयोग कर सकें जो इस प्रकार के वस्त्र घर से लेकर नहीं आये हैं । महिलायें प्रायः साड़ियाँ ही पहनती हैं । वे धर्मकृत्यों में पीली रंगी रहें । शरीर पर धारण करने के वस्त्र चिपके रहने वाले नहीं ढीले होने चाहिए ।

नित्य उपासना से अधिक लाभ

प्रतिदिन प्रातः–सायं नियमित रूप से गायत्री उपासना का विधान है । उस नियमितता में कोई व्यतिरेक नहीं आने देना चाहिए । तन्मयता और एकाग्रता तो उपासना को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए अनिवार्य है ही, पर इतने मात्र से ही आत्मकल्याण की आवश्यकता पूरी नहीं हो जाती है । स्वास्थ्य संरक्षण के लिए दिन में दो या तीन बार भोजन करते हैं । शरीर के पोषण और स्वास्थ्य संरक्षण के लिए यह आवश्यक है, पर इतने मात्र से ही यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो जाता । इसके साथ ही श्रमशील जीवन जीना, दिनचर्या में और भी कई नियमों का समावेश करना आवश्यक हो जाता है । यदि इन आवश्यक बातों का ध्यान न रखा गया तो कितना ही पौष्टिक भोजन किया जाय, उससे पोषण और स्वास्थ्य संरक्षण की आवश्यकता पूरी नहीं होती । गायत्री उपासना थोड़े समय तक की जाती है लेकिन उसका पूरा लाभ मिलता है, जब जीवन पथ में उपासना के साथ–साथ साधना का भी समावेश किया जाय ।

पहलवान लोग शारीरिक शक्ति का सम्वर्धन करने के लिए पौष्टिक भोजन तो करते ही हैं लेकिन उसका अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए, अधिकाधिक श्रम, व्यायाम, दण्ड–बैठक आदि भी करते है, तभी उसका समुचित लाभ मिलता है । जिन्हें गायत्री उपासना से अधिकाधिक लाभ उठाना है, उन्हें चाहिए कि वे उपासना के साथ साधनात्मक व्यायाम भी करें । यदि उपासना का स्तर अधिक ऊँचा कर दिया जाय, उसे साधना स्तर की बना दिया जाय तो उसका लाभ और भी अधिक मिलता है । साधना से आशय. उपासना में निष्ठा का अधिकाधिक समावेश करना है । निष्ठा का समावेश संकल्प, दृढ़ता, अनुशासन और नियमितता के रूप में चरितार्थ होता है । निष्ठा के समावेश से संकल्प बढ़ता है, संकल्प से मनोबल, आत्मिक–बल ऊँचा उठता है । यह मनोबल, संकल्प दृढ़ता, समन्वित–निष्ठा साधक को कठोर अनुशासन में रहने के लिए प्रेरित और बाध्य करती है । यह अनुशासन नियमानुवर्तित ही तपश्चर्या कहलाती है । अनुष्ठान साधनाओं में इन्हीं बातों की विशेष रूप से आवश्यकता पड़ती है और यदि नियमित साधना में भी इन विशेषताओं का समावेश कर लिया जाय तो वह सामान्य उपासना क्रम भी अनुष्ठान स्तर का बन जाता है । अस्तु, गायत्री उपासना का अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए उसमें नियमपालन, अनुशासन, निष्ठा, दृढ़ता और नियमितता का कड़ाई के साथ पालन करना चाहिए ।

साधना का स्तर ऊँचा उठाएँ

अनुष्ठान समय विशेष पर नियत अवधि में पूरा करना पड़ता है । यों उसे कभी भी आरंभ किया जा सकता है लेकिन अवधि का ध्यान तो रखना ही पड़ता है । उच्चस्तर के, बहुत ही ऊँची श्रेणी के साधक २४ लाख का महापुरश्चरण नित्य निरंतर चलाते हैं पर यह पूरा समय साधना–उपासना में लगा सकने वालों के लिए ही सम्भव है । सामान्य स्थिति में अपनी स्थिति में अपनी उपासना को

अनुष्ठान स्तर का बनाना हो तो उसकी लिए एक वर्ष में पाँच लाख जप की संख्या पूर्ण करना सर्वश्रेष्ठ है । एक वर्ष में पूरे होने वाले इस उपासना अनुष्ठान को अभियान साधना कहते हैं । इस साधना का विधि–विधान भी बहुत सरल है । ५ लाख की जप संख्या १५ माला प्रति दिन जप करने तथा चैत्र और आश्विन की दो नवरात्रि में २४ हजार का लघु अनुष्ठान करने से पूरी हो जाती है । यों पन्द्रह माला प्रति दिन करने से भी ३६० दिन में पाँच लाख की संख्या पूरी हो जाती है किन्तु नवरात्रियों के लघु अनुष्ठान तो सभी उपासक करते हैं । सामान्य उपासना क्रम अपनाने वाले साधक भी प्रायः नवरात्रि अनुष्ठान करते हैं । अतएव अभियान साधना करने वाले साधकों को तो यह अनुष्ठान करना और भी आवश्यक है, लाभप्रद है ।

यह तो हुई संख्या पूरी करने की बात । अभियान साधना को अनुष्ठान स्तर की बनाने वाले नियम हैं–गुरुवार के दिन संयम । संयम–अर्थात् उपवास मौन, ब्रह्मचर्य तितिक्षा और उन सभी नियमों का पालन जो २४ हजार के, सवा लक्ष के अथवा चौबीस लक्ष के, लघु, मध्यम तथा पूर्ण अनुष्ठान पुरश्चरण में करने पड़ते हैं ।

यों शुभ कार्य के लिए सभी दिन शुभ हैं । फिर भी किसी पर्व से यह साधना आरम्भ की जाय तो अधिक उत्तम है । बसन्त पंचमी, गुरु पूर्णिमा, गायत्री जयन्ती आदि पर्वों से अथवा तिथियों में पंचमी, एकादशी और पूर्णिमा या वारों में रविवार अथवा गुरुवार अधिक उत्तम है । यों बुरा या निषिद्ध कोई भी दिन नहीं है । सामान्य नियम यह है कि जब से आरम्भ किया जाय तभी एक वर्ष पूरा होने पर समाप्त किया जाय । पर्व दिन कुछ आगे–पीछे पड़ते हों तो उस अवसर पर भी पूर्णाहुति की जा सकती है और शेष जप संख्या को थोड़ी–बहुत घटा–बढ़ाकर सन्तुलन बिठाया जा सकता है ।

वैसे पंद्रह माला और २४ हजार के दो लघु अनुष्ठानों का नियम भी इस प्रकार बनाया गया है कि इस क्रम से उपासना करने में प्रायः ११ महीनों में ही यह संख्या पूरी हो जाती है । चांद्र वर्ष पूरे तीन सौ साठ

दिन का होता भी नहीं है । तिथियों की घट–बढ़ प्रायः होती रहती है, इसलिए पाँच लाख की संख्या सरलतापूर्वक पूरी हो सकती है ।

अभियान साधना के नियम

कहा जा चुका है कि अभियान साधना उन साधकों के लिए है जो अपने सामान्य उपासना क्रम का स्तर बढ़ाकर, उसे ऊँचा उठाकर और अधिक लाभ प्राप्त करना चाहते हों । एक–दो, तीन माला का जप और ध्यान आरम्भिक कक्षा है । यह उपासना आरम्भ करते समय साधक से कहा जाता है कि मन लगने न लगने पर भी ज्यों–त्यों इस अभ्यास को जारी रखा जाय, समय न मिले तो मानसिक जप किसी भी समय किया जा सकता है । लेकिन इतना ध्यान रखना चाहिए कि वह सब नियमित हो । यदि प्रयत्न किया जाय तो ऐसा समय आसानी से निश्चित किया जा सकता है कि उस समय अवकाश रहे और उपासना नियमित रूप से चल सके ।

आरम्भिक कक्षा से आगे बढ़कर उच्च कक्षा में प्रवेश के लिए ही अभियान साधना का उपक्रम है । तितिक्षा तप आदि नियमानुशासनों का नियमित रूप से पालन हो सके तो अच्छा ही है, पर जिन नियमों का अभ्यास ही नहीं है, उसके लिए आरम्भ छोटे रूप में किया जाना चाहिए और इसी के लिए सप्ताह में एक दिन इन व्रत–नियमों के पालन की बात कही गई है । पूरी दिनचर्या ही अनुशासित, नियमबद्ध और तप–परायण बन सके तो कहना ही क्या ? लक्ष्य वही रखना चाहिए । गुरुवार को अनुष्ठान नियमों का पालन करना इसीलिए आवश्यक रखा गया है कि साधक ये नियमादि याद रखे तथा उनकी प्रेरणा, दिशा निरन्तर नियमित रूप से प्राप्त करता रहे । इन्हें सदैव पालन करना निषिद्ध नहीं है । सप्ताह में एक दिन इस दिनचर्या का पालन न्यूनतम को आवश्यक समझते हुए निर्धारित किया है ।

सर्वविदित है कि अनुष्ठानों में आहार–विहार के दोनों पक्षों पर

नियन्त्रण, संयम करना पड़ता है । भोजन में पूरे या अधूरे उपवास की रीति–नीति का यथासम्भव समावेश, ब्रह्मचर्य का पालन, अपनी सेवायें आप करने का प्राविधान है । तितीक्षा का अभ्यास करने के लिए भूमिशयन जैसी कठोरताएँ अपनानी पड़ती हैं । इस तरह के और भी कितने ही तप–साधन, व्रत–अनुशासन हैं जो ध्यान जैसे सामान्य क्रम को सशक्त एवं प्रभावोत्पादक बनाने में समर्थ हैं । अभियान–साधना में भी इस प्रकार की कठोरताओं का यथासम्भव पालन करना चाहिए । इसी उद्देश्य से गुरुवार का दिन संयम साधना के लिए निर्धारित है । ताकि साधक को अपनी जीवन नीति का स्मरण ही नहीं अभ्यास भी बना रहे ।

अभियान साधकों को गुरुवार के दिन प्रमुखतः तीन नियमों का पालन करना होता है । उपवास, मौन और ब्रह्मचर्य । इन तीनों का जितनी ही कड़ाई के साथ पालन किया जाय उतना ही उत्तम है । उपवास में हो सके तो दूध, छाछ, रस जैसे पेय पदार्थ ही लिए जायें, तो सर्वोत्तम है । किन्तु इससे काम न चले तो शाकाहार भी लिया जा सकता है । इतना भी कठिन पड़े तो एक समय भोजन किया जा सकता है । उस एक समय के भोजन में अस्वाद व्रत पालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए । नमक और शकर दोनों में से एक भी न लिया जाय ।

यह स्वाद संयम जिह्वा संयम का एक पक्ष है । इसका दूसरा पक्ष है–संतुलित और सुसंस्कृत भाषण । इसके लिए पुराने अभ्यास को रोकने और नया अभ्यास आरम्भ करने का मध्यम उपाय मौन है । पूरे दिन मौन रखना तो कामकाजी व्यक्ति के लिए कठिन पड़ता है, पर प्रातःकाल अथवा जब भी सुविधा हो दो घण्टे की मौन साधना बिना किसी अड़चन के की जा सकती है । जितने समय मौन रहा जाय, वह समय मनन, चिन्तन में लगाया जाय । मनन का अर्थ है–आत्मचिन्तन, अपनी वर्तमान स्थिति का आलोचक की दृष्टि से विवेचन । इस विवेचन से अपने भीतर जो दोष–दुर्गुण दिखाई दें,

जो आदतें अनुपयुक्त जान पड़ें, उनके निराकरण की योजना बनाना तथा जिन सत्प्रवृत्तियों का अपने में अभाव है, उनके अभिवर्धन की योजना बनाना, इसी का नाम चिन्तन है। अपना आत्म–विवेचन मनन है और त्रुटियों के निराकरण तथा सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन की योजना बनाना चिन्तन कहा जा सकता है। इन्हीं दो कार्यों में चित्त को मौन की अवधि में व्यस्त रहना चाहिए। स्मरण रखा जाय कि मौन का अर्थ मात्र चुपचाप बैठे रहना नहीं है। इस अवधि को एकांत में बिताना चाहिए। मुँह से कुछ न बोलकर जबान बन्द रखकर भी इशारेबाजी की जाती है, तो उससे मौन का प्रयोजन पूरा नहीं होता। यह आत्मश्लाघा तो मौन न रखने से भी बुरी है।

जिह्वा की तरह ही जननेन्द्रिय पर भी अंकुश रखना आवश्यक है। क्रीड़ा, विनोद के सभी क्रिया–कलापों में यह सबसे ज्यादा मँहगा खेल है। जीवनी शक्ति से खिलवाड़ करने वाली इस आदत से जितना छुटकारा पाया जा सके उतना अच्छा है। गुरुवार को ब्रह्मचर्य से रहने का नियम इसीलिए है कि इस संयम का महत्त्व समझा जाय और न केवल यौन क्रिया से वरन् कामुक चिन्तन से भी मन को विरत रखने का यथासम्भव प्रयत्न किया जाय। ब्रह्मचर्य में शारीरिक संयम जितना महत्वपूर्ण है, अश्लील वासनाओं और विचारों पर अंकुश रखना उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। यही तथ्य अपने आपको समझाने के लिए ही गुरुवार को ब्रह्मचर्य का पालन प्रतीक रूप से अपनाया जाता है। स्वाद, संभाषण और वासना पर नियन्त्रण की आवश्यकता अनुभव करने की दृष्टि से ही अस्वाद, मौन, ब्रह्मचर्य के तीन नियम बनाये गये हैं। अभियान साधना करने वाले साधक को गुरुवार के दिन तो इतना करना ही चाहिए। ध्यान यह भी रखना चाहिए कि इन संयमों का प्रतिदिन आजीवन पालन करने का अधिक से अधिक साधन जुटाया जाय और अधिक से अधिक कदम बढ़ाये जा सकें उसके लिए प्रयत्नशील रहा जाय।

अभियान साधना और संयम

इन्द्रिय संयम तपश्चर्या का आरंभ है, अन्त नहीं । अपनी शक्तियों के अपव्यय को रोककर उन्हें आत्मिक विकास की दिशा में नियोजित करना ही तपश्चर्या का मूल उद्देश्य है और स्मरण रखा जाना चाहिए कि रसना, बकवाद तथा यौन–लिप्सा के कारण जीवनी–शक्ति का अस्सी प्रतिशत भाग नष्ट होता है । यदि इन छिद्रों को बन्द कर दिया जाय तो जीवन की प्रवृत्ति स्वतः ही शुभ से अशुभ की ओर अग्रसर होने लगेगी । इन तीन मुख्य छिद्रों को बन्द कर देने पर अशुभ दृष्टि, विलासी जीवन तथा अन्य इन्द्रिय लिप्साओं को नियन्त्रित कर पाना अपेक्षाकृत बहुत आसान हो जायगा ।

फिर भी यह नहीं समझ लेना चाहिए कि संयम से तात्पर्य उपवास, मौन और ब्रह्मचर्य भर ही है । उसकी परिधि और साधना क्षेत्र बहुत व्यापक है तथा उसमें सभी प्रकार के अपव्ययों को रोकने की आवश्कयता पर जोर दिया गया है, इन्द्रिय संयम उनमें से एक है । मनोनिग्रह उसका दूसरा पक्ष है । मनोनिग्रह अर्थात् चिन्तन को अभीष्ट प्रयोजनों में नियोजित करना और अवांछनीय विचारों को आते ही भगा देना ।

अभियान साधना में सभी स्तर के संयम पर जोर दिया गया है । जैसे समय संयम अर्थात् सोने से लेकर जागने तक एक भी क्षण आलस्य या प्रमाद में बर्बाद न करना । श्रम सन्तुलन को बुद्धिमत्ता पूर्वक बनाये रहना । धन का संयम अर्थात् उचित और न्याय–नीति पूर्वक उपार्जन करना तथा कमाई को आवश्यक प्रयोजनों में ही व्यय करना । यही चारों संयम मिलकर जीवन साधना को तपश्चर्या का समग्र रूप बनाते हैं । इन्द्रिय संयम उनमें प्रथम है । अभियान साधना में निरत साधकों का लक्ष्य प्रथम चरण की चिन्ह पूजा को

ही सब कुछ नहीं मान बैठना चाहिए वरन् समग्र संयम की तपश्चर्या को साधना का आवश्यक अंग मानकर चलना चाहिए तथा इन उपचारों के सहारे संयमशीलता अपनाने की व्यावहारिक रूपरेखा निर्मित की जाय ।

साधना की पूर्णाहुति

गायत्री और यज्ञ का अनिवार्य सम्बन्ध है । यज्ञ भारतीय संस्कृति का आदि प्रतीक है । गायत्री को भारतीय संस्कृति की जननी कहा गया है तो यज्ञ को संस्कृति का पिता । भारतीय धर्मानुयायियों के जीवन में यज्ञ का बड़ा महत्व है । कोई भी कार्यक्रम बिना यज्ञ के पूरा नहीं होता । साधनाओं में तो हवन और भी अनिवार्य है । जितने भी पाठ, पुरश्चरण, जप, साधन किये जाते हैं वे चाहे वेदोक्त हों चाहे तांत्रिक उनमें किसी न किसी रूप में यज्ञ, हवन अवश्य करना पड़ता है । प्रत्येक कथा, कीर्तन, व्रत, उपवास, पर्व, त्यौहार, उत्सव, उद्यापन सभी में यज्ञ अवश्य करना पड़ता है । इस प्रकार गायत्री उपासना में भी हवन आवश्यक है । अनुष्ठान या पुरश्चरण में जप का दसवाँ भाग हवन करने का विधान है । यदि इतना न बन पड़े तो शतांश (सौवाँ भाग) हवन करना चाहिए । गायत्री उपासना के साथ यज्ञ का युग्म बनता है । गायत्री को माता और यज्ञ को पिता माना गया है । इन्हीं दोनों के संयोग से मनुष्य का आध्यात्मिक जन्म होता है, जिसे द्विजत्व कहते हैं । द्विज का अर्थ है—दूसरा जन्म । जैसे अपने शरीर को जन्म देने वाले माता—पिता की सेवा—पूजा करना मनुष्य का कर्तव्य है, उसी प्रकार गायत्री माता और यज्ञ पिता की पूजा भी प्रत्येक द्विज का आवश्यक धर्म—कर्तव्य है ।

यह नहीं सोचना चाहिए कि सामान्य और नियमित उपासना क्रम में यज्ञ की कोई आवश्यकता नहीं है । यज्ञ को प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक नित्य कर्म माना गया है । यह बात अलग है कि लोग उसका महत्व एवं विधान भूल गये हैं और केवल चिन्ह पूजा

करके काम चला लेते हैं। घरों में स्त्रियाँ किसी न किसी रूप में यज्ञ की चिन्ह–पूजा करती हैं। त्यौहारों या पर्वों पर अग्नि को जिमाने या अज्ञारी करने का कृत्य प्रचलित है। थोड़ी–सी अग्नि को लेकर, घी डालकर उसे प्रज्ज्वलित करना और उस पर पकवान के छोटे–छोटे ग्रास चढ़ाना तथा फिर अग्नि से जल की परिक्रमा करा देना, यही प्रक्रिया प्रत्येक घर में पर्व एवं त्यौहारों पर सम्पन्न होते देखी जा सकती है। शास्त्रों में बलिवैश्व का नित्य विधान है। प्रतिदिन भोजन बनने के बाद बलिवैश्व के लिए अग्नि में आहुति देनी होती है।

इस प्रकार यज्ञ को कहीं भी अनावश्यक नहीं माना गया है, बल्कि उसे तो और भी आवश्यक–अनिवार्य बताया गया है। अस्तु अभियान साधना में निरत साधकों को अपने अनुष्ठान की पूर्णाहुति यज्ञ से करनी चाहिए और फिर अगला अनुष्ठान आरम्भ करना चाहिए। यज्ञ छोटा करना हो तो उसमें अपने परिवार के लोगों को सम्मिलित किया जा सकता है और एक कुण्ड का अग्निहोत्र किया जा सकता है। सब लोगों द्वारा मिलकर की गई २४०० आहुतियाँ देने से भी काम चल सकता है। बड़ा रूप देना हो तो पड़ौसी, सम्बन्धियों, मित्रों को भी सम्मिलित करके पाँच कुण्डी आयोजन का रूप दिया जा सकता है। उस हवन में सम्मिलित आहुतियाँ पाँच हजार भी हो सकती हैं। अलग से प्रबन्ध न करना हो तो किसी बड़े सामूहिक आयोजन में भी पूर्णाहुति का नारियल चढ़ाया जा सकता है।

वस्तुतः अभियान साधना एक प्रकार का अनुष्ठान ही है, जो एक वर्ष की अवधि में पूरा होता है। अवधि लम्बी होने से उसमें अनुशासन की सफलताएँ रखी गयीं हैं। सामान्य साधक इसे बिना किसी कठिनाई के सरलतापूर्वक पूर्ण कर सकते हैं। पूर्णाहुति के अवसर पर ब्रह्मभोज के रूप में अर्घ्यदान का भी माहात्म्य है।

मात्र शारीरिक और मानसिक श्रम ही पर्याप्त नहीं, उसके साथ अर्थदान भी आवश्यक है। यज्ञ के रूप में कुछ पैसा खर्च होता है, कुछ ब्रह्मभोज के रूप में करना चाहिए। वर्तमान परिस्थितियों में ब्रह्मदान ही ब्रह्मभोज का विकल्प हो सकता है। ब्रह्मदान अर्थात् गायत्री साहित्य का सत्पात्रों को प्रचार के रूप में वितरण। इसके लिए कुछ राशि श्रद्धापूर्वक संकल्पित करनी चाहिए। प्रसाद वितरण में मिठाई बाँटने की अपेक्षा ज्ञान सामग्री देने की व्यवस्था अधिक उपयुक्त है।

प्रातः-सायं उपासना

एक घण्टे में गायत्री मंत्र की प्रायः ग्यारह मालाओं का जप सामान्य गति से पूरा हो जाता है। किन्हीं की गति कम भी हो सकती है और किन्हीं की ज्यादा, पर औसत गति यही मानी जा सकती है। इस प्रकार पन्द्रह माला जपने में लगभग डेढ़ घण्टा समय लगना चाहिए। यह सारा समय प्रातःकाल ही लग सके तो अधिक अच्छा है अन्यथा उसे प्रातः सायं में दो बार में भी पूरा किया जा सकता है। सायंकाल से तात्पर्य सूर्य अस्त होने का समय ही नहीं उसके बाद में रात को सोते समय भी समझना चाहिए। काम पर लगने से पहले सुबह और काम से निवृत्त होने के बाद रात्रि को ही प्रायः समय मिलता है। यही दोनों समय उपासना के लिए सुविधाजनक हैं। अधिक रात्रि बीत जाने पर मुँह बन्द रखकर मानसिक जप द्वारा प्रातःकाल में बची हुई शेष मालाएँ पूर्ण की जा सकती है। प्रयत्न यही करना चाहिए। अधिकांश जप संख्या प्रातःकाल पूर्ण हो जाए। इसके लिए एक घण्टा सुबह और आधा

घण्टा रात्रि में अथवा सवा घण्टा सुबह और पन्द्रह मिनट रात्रि में, इस प्रकार समय निर्धारित किया जा सकता है ।

जप के समय गायत्री माता की छवि का अथवा निराकार साधक सविता देवता का मध्य भाग में ध्यान करे और भावना करे कि उसका दिव्य प्रकाश, स्थूल और कारण शरीर में प्रवेश कर उन्हें ज्योतिर्मय बना रहा है । उपासना के समय मन को पूरी तरह इष्ट छवि पर केन्द्रित रखना चाहिए, उसे इधर–उधर भटकने नहीं देना चाहिए और न ही दूसरे विचारों को मनःक्षेत्र में प्रविष्ट होने देना चाहिए ।

इस प्रकार आत्म–कल्याण और आत्मोत्थान का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए की गई गायत्री साधना, अन्य साधनाओं की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है । गायत्री साधना की विशेषता यह है कि इससे पीछे अगणित साधकों का तप–बल छिपा हुआ है और साधक सूक्ष्म जगत के माध्यम से अनायास ही उनका सहयोग प्राप्त कर लेता है और सफलताओं की ओर अग्रसर होने लगता है । गायत्री साधना अपरा प्रकृति को पराप्रकृति में रूपान्तरित करने के विज्ञान पर आधारित है । मनुष्य की पाशविक वृत्तियों के स्थान पर ईश्वरीय सत् शक्ति को प्रतिष्ठित करना ही अध्यात्म विज्ञान का कार्य है । तुच्छ को महान्, ससीम को असीम, अणु को विभु, बद्ध को मुक्त और पशु को देवत्व के स्तर तक पहुँचाना ही साधना का मुख्य उद्देश्य है, जो गायत्री के माध्यम से भली–भाँति निरापद ढंग से पूरा होता है ।

पिछले जमाने में धार्मिक जगत में विकृतियों के बढ़ जाने तथा विज्ञान–जगत में नये–नये चमत्कार दृष्टिगोचर होने के कारण लोगों में अध्यात्म तथा ईश्वर पर अनास्था का भाव विशेष रूप से उत्पन्न हो गया था । कितने ही नव–शिक्षित व्यक्ति तो इसे मात्र

अन्धविश्वास मानकर इसको बुद्धिहीनता का चिन्ह मानने लगे थे, पर अब विज्ञान के चरम सीमा पर पहुँच जाने के पश्चात् भी संसार की गतिविधियों में कोई आशाजनक कल्याणकारी लक्षण न देखकर उनकी विचारधारा बदलने लगी है । अब यह अनुमान किया जा रहा है कि संसार में केवल भौतिक पक्ष ही सब कुछ नहीं है वरन् अध्यात्म–पक्ष को मान्यता मिलने से ही मनुष्य वास्तविक मानवता के समीप पहुँच सकेगा । गायत्री–साधना सर्वजनीन, सुगम, स्पष्ट और सरल है । इसका आश्रय लेकर हम अध्यात्म मार्ग में उल्लेखनीय प्रगति कर सकते हैं और मानवता के लक्ष्य को अपेक्षाकृत न्यून प्रयास से ही प्राप्त कर सकते ।

मुद्रक युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा